अधूरा चित्र

लेखक
पहाड़ी

प्रकाशक
नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ.

लेखक की ग्रन्थ रचनाएँ :

कहानी-संग्रह :

१—सफ़र	१॥)
२—छाया में	१)
३—यथार्थवादी रोमांस	१।)

उपन्यास :

१—चलचित्र	१)
२—गुनगुन	१)
३—सराय	२)

अपना दृष्टिकोण

एक :

अधूरा चित्र मेरा चौथा कहानीसंग्रह है। आज पाठकों को अपनी कहानियों के बारे में कुछ बतलाना पड़ेगा। कहानी लिखना जितना सरल काम है, उस पर कुछ कहना उतना ही कठिन। मैं एक मौलिक कहानीलेखक हूँ, समालोचक नहीं। आज तक मैंने अपनी कहानियों की चीर-फाड़ इसलिए नहीं की। मैं कहानी लिखता हूँ, यह मेरा पेशा नहीं। यह लिखना किसी आर्थिक पहलू का सवाल भी हल नहीं करता। न लिखकर साहित्य में अपनी कोई हैसियत बनाने की चाहना ही है। इस सबके बाद भी मुझे कहानी लिखनी पड़ी और आज भी लिख रहा हूँ। आज मैं उलझन में पड़ जाता हूँ कि यह जो मैं कहानियाँ लिखता हूँ वह क्या है? यह कोई ख़ास कला नहीं। जिस तरह बातें करने के अलग-अलग तरीके होते हैं, उसी तरह घुमा-फिराकर कहानियाँ भी लिखी जाती हैं। सब

पुरानी, दुनिया में फैली बातों को नया रंग-रूप देकर आज के वातावरण और घटना के अनुकूल बना दिया जाता है।

एक छोटी कहानी है :

एक कुत्ता सड़क पर लेटा हुआ था। किसी ने उससे पूछा कि वह उस तरह वहाँ क्यों पड़ा है। उसने चटपट जवाब दिया कि वह भले और बुरे की पहचान करता है। जो भला होता है वह चुपचाप चला जाता है, जो बुरा वह लात मारकर।

कुत्ते ने शायद यह बात नहीं कही होगी। इन्सान ने कुत्ते को कसौटी बनाकर व्यक्तियों की पहचान करवायी है।

अपना-अपना लिखने का ढंग है। मैं एक छोटी कहानी लिखता हूँ : एक पत्थर कोलतार से पुती चौड़ी सड़क पर पड़ा है। एक भिखारी उधर से गुज़रता है। उसे ठोकर लगती है। उसे सामाजिक ठोकरें खाने की आदत पड़ी हैं, वह उसे भी चुपचाप आगे बढ़ जाता है। एक निराश-प्रेमी को भी उसी पत्थर से चोट लगती है, वह उसके जीवन की पहली निराशा है। इस चोट से वह चोट दुख जाती है। वह अपने को अभागा घोषित करता है। एक पुलिसमैन उधर से निकलता है, उसके बूट भी उस पत्थर पर लगते हैं। वह 'शासन के प्रतीक' रूप में उसे एक और ठोकर मारता है। एक परिवार उस रास्ते घूमने जा रहा है। बच्चे को ठोकर लगती है। पिता सोचता है और किसी बच्चे को भी लगेगी। वह उस पत्थर को उठाकर पास के खड्डे में फेंक देता है।

कहानी कहने की प्रथा बहुत पुरानी है। पहले आदि आर्यों में प्रकृति व दुनिया के निर्माण की कथा प्रचलित हुई। अग्नि, वायु आदि देवता भी कथा के रूप में आए। सृष्टि बढ़ती चली गई और समाज का निर्माण हुआ, फिर 'राजनीति' भी छोटी-छोटी कहानियों के रूप में बनाई गई। आगे चलकर प्रकृति, राजा, समाज व मानव-भावनाओं का कथारूप भी हमें 'कादम्बरी' में मिलता है। इसी तरह कहानी कई मंजिलें लाँघ-कर आज के नए रूप में आयी है। प्राकृतिक वर्णन, समाज के वीरों की कहानियाँ, घटनाओं का जाल और आज वह समाज व्यक्ति और समूहों के बीच का जो मनोवैज्ञानिक रिश्ता है, उस ओर तेजी से बढ़ रही है।

मुझे अपने पात्रों का चुनाव करने में कठिनाई नहीं पड़ती। मैं पात्र को उठा लेता हूँ। सड़क पर पड़े पत्थर की तरह घटनाएँ स्वयं उसे चारों ओर से घेरती हैं, मुझे अधिक कठिनाई नहीं पड़ती। इसी तरह मैंने कहानियाँ लिखी हैं। कहानी का एक पूरा ढाँचा मैं पहिले कभी नहीं बनाता हूँ। वह स्वयं ही बनता है। यही मेरी कहानी की कहानी है।

* *

दो :

अब कुछ 'अधूरा चित्र' और उसकी कहानियों पर भी लिख रहा हूँ।

'तीखा व्यंग', जीवन-मनोविज्ञान के छुपे कारण का प्रश्न हल करने में सफल हो सकता है या जीवन 'लक्षण' में सीमित

भर मान लिया जाय या फिर जो 'भद्दा' है, उसका हमारे हृदय में कौन सा वास्तविक स्वरूप है। इस तरह की कई समस्याओं को विभिन्न पहलुओं से परखने का लोभ अक्सर मुझमें उठा, उस सब पर एक राय नहीं दी जा सकती है। कारण कि इन्सान कई उलझे व्यक्तित्वों का बना पुतला है। साथ ही घटना और वातावरण भी साध्य हैं, जिनको 'यूँ ही' कहकर नहीं टाल सकते हैं। किसी एक इन्सान के व्यक्तित्व को प्रतीक-रूप में मान लेना भी ग़लत कसौटी होगा। व्यक्ति में भावना, भावुकता, निराशा, दुःख, क्रोध आदि भीतरी दृष्टि होती हैं। वह अपने को घमंडी भी बनाने की क्षमता रखता है। प्रति दिवस के जीवन में 'अवसर' के साथ-साथ स्वयं व्यक्ति और उसकी दुर्बलताएँ भी उस पर असर डालती हैं। कहानी का व्यक्ति, कहानी का वातावरण, कहानी की घटनाएँ—सब उस व्यक्ति के चुने अवसर का ढाँचा-मात्र है। वह लेखक के प्रति दिवस-दृष्टि में पड़नेवाले व्यक्तियों या समय का एक चुना हुआ ख़ाका होता है। कभी वह एक दरजे का व्यक्तित्व होगा। जहाँ अलग-अलग वर्गों की दूरी से वह अलग खड़ा हुआ मिलता है। उसका सही चित्रण लेखक की कुशलता पर निर्भर रहता है।

आज की कहानी राजा-रानी, हड्डी-मांसवाले शारीरिक व्यक्तित्व से अलग, इन्सान और समूह के मनोवैज्ञानिक उफानों की चर्चा है। उसका चित्रण फोटोग्राफ के 'निगेटिव' की तरह है, जिस पर कभी-कभी फोटोग्राफ़र यदा-कदा सुन्दर 'टच' दे दिया करता है। आज की कहानी का रूप विज्ञान के विद्यार्थी का प्रयोग है, जो

कि वह प्रयोगशाला में अन्वेषण करने की चाहना रख, स्वयं तरह-तरह के प्रयोग सफलतापूर्वक करता है। आज की कहानी का रूप तो एक सर्जन की टेबुल पर पड़े मरीज़ का सही हाल है, जिसे पैने हथियारों से चीर-फाड़ वह जान लेना चाहता है कि रोग क्या है? 'लैला मजनू' का रोमांस अब बीती कहानी है, जिसमें प्रेम की परवशता थी। वह उन राजकुमारों को बहादुरी का पाठ नहीं पढ़ाती है, जो राजकुमारी को छुड़ाने के लिए, सात समुद्र पार की यात्रा करते थे।

आज की कहानी 'निराशावाद' की कहानी है, जिसका सही कारण 'आर्थिक दासता' है। उसका रूप एकाएक पहचान लेना कठिन होता है। जो सनातन है, सत्य है, उसे भुलाया नहीं जा सकता। वैसे हम इतिहास के एक ऐसे अवसर से गुज़र रहे हैं, जब कि शीघ्र ही 'वस्तुवादी-आकर्षण' और 'आर्थिक दासता' एक नए पहलू में प्रवेश करनेवाली है। आगे सामाजिक सिद्धान्त और इन्सान के जज़बात आज के से नहीं रहेंगे। धर्म और नैतिकता की आड़ से बाहर, समाज और शासन का ढाँचा बदल जावेगा। आज तो अविश्वास बढ़ रहा है। वैज्ञानिक सत्यता भी अनायास सन्देह पैदा कर देती है। हमारा धर्म, राजनीति और आर्थिक दासता का जो रूप आज है, कल वह यही नहीं रहेगा। डूबते हुए मध्यवर्गीय समाज का निराशावाद भी आज जर्जर हो चला है। मेरी ये कहानियाँ उस अस्वस्थ समाज की कहानियाँ ही अधिक हैं। वह मिट रहा है। कल की हमारी कहानियाँ, इन मुर्दा कहानियों के इस टूटे-फूटे ढाँचे पर ही नए

तौर पर निर्माणित होंगी। सस्ती भावुकता मिट जावेगी। एक नया प्रभाव और नई ताक़त उन कहानियों में होगी, जो स्वस्थ होगी।

हमारी पिछली कहानी सामन्त-शाही, पूँजीवाद के बीच बड़े रुग्ण और अस्वस्थ समाज की घटनाएँ हैं। जिस दासता के प्रति हमें विश्वास नहीं वह स्वयं मिट जावेगी। समाज भिन्न-भिन्न स्वस्थ 'समूहों' में परिणत होगा। समूहों की कहानी आज से कहीं स्वस्थ होवेंगी। उनकी धुँधली रूप-रेखा आज की कहानी में आ गयी है।

यह 'अधूरा चित्र' है। जिसकी कहानियों पर वक़्त का भारी असर पड़ा है। वह कैसी कहानियाँ हैं, यह पाठक कहेंगे। मैंने एक नए दृष्टिकोण से कहानियाँ लिखी हैं। पाठकों को जैसी लगेंगी वे ही जानें।

पुस्तक के कवर-डिजाइन के लिए मैं श्रीपूरणचन्द बडोलाजी का आभारी हूँ।

साथ ही स्वर्गीय बाबू राजाराम भार्गवजी की याद भी अनायास हरी हो आती है। उन्होंने भारी उत्साह के साथ यह पुस्तक प्रेस में दी थी और आज वे हमारे बीच नहीं हैं।

मुरलीनगर, लखनऊ
दीपावली १९४१

पहाड़ी

विषय-सूची

स्वर्गीया पद्मा दीदी को

रज्जो

महीम खा-पी बाहर मोढे पर बैठा चुपचाप सिगरेट फूँक रहा था। भीतर चिक की ओट में रज्जो चारपाई पर लेटी थी। आज रज्जो में पिछली सरलता और उत्साह नहीं, चेहरा फीका पड़ गया है।

अब महीम ने पूछा, "किस डॉक्टर का इलाज है?"

"डॉक्टर का........।" रज्जो मलिन हँसी हँसी। कुछ देर वह हँसी उस घर के कोने-कोने से प्रतिध्वनित होती रही, और चुपी को हटाते बोली वह, "यूनानी, देशी, होमोपेथी सब इलाज हो लिये, फ़ायदा कुछ नहीं हुआ। अब तो........ ।"

"पानी माफ़िक नहीं होगा। कुछ दिनों को ताई के पास गाँव न चली चलो।"

"यहाँ का जंजाल भी छूटे तब न। कल साँझ तुमने ही नहीं देखा। उनको खाना हज़म नहीं होता। लाख कहती

हूँ, अपनी सेहत की परवाह किया करो, पर मानते कब हैं।"

"तुम्हें भी तो लापरवाही नहीं करनी चाहिए। कब तक आखिर यह सब चलेगा।"

"प्राण जल्दी छूटेंगे नहीं, यह तो जानती हूँ। कुछ महीने और सही, फिर छुटकारा मिल जावेगा।" रज्जो मुसकराई।

वह मुस्कान भी अजीब लगी। रज्जो जीवन के प्रति उदासीन ठान, यह कैसी मखौल उड़ा रही थी। जैसे कि उपेक्षा को भेद न मान, विश्वास सावित करना चाहती हो।

"अब तो बड़ी-बूढ़ी पुरखिन बन गई है।" महीम ने सिगरेट की राख एक ओर झाड़ते कहा।

"सिगरेट पीनी नहीं छोड़ी", रज्जो जैसे कि अब सही पहचान पा गई थी।

"सिगरेट! भला अब टोकनेवाला ही कौन है।"

"चाची कुछ नहीं कहती।"

"कितना कहे, अब तो चुप रहना सीख गई है।"

"हुक्का पिया करो, भर लाऊँ।" कह रज्जो उठी थी कि महीम ने मना करते कहा, "नहीं! नहीं!"

रज्जो फिर भी उठ खड़ी हुई। सिर पर साड़ी का आँचल सरकाया। रज्जो मैली पुरानी चिप्पे लगे साड़ी

पहने थी। आज कितना सब्र उसे है। फिर महीम ने टोका, "अभी सिगरेट पी, कुछ देर बाद सहा।"

"सिगरेट ठीक चीज़ नहीं। इससे तन्दुरुस्ती बिगड़ जाती है। देख रही हूँ, अब तुम पहले से बहुत दुबले हो गये हो।"

"और तू।" महीम ने बात काटी।

"मैं!" रज्जो अटकी। सोचा अपने मन में, महीम सब क्यों जान गया। वह तो उससे सब कुछ छुपाना चाहती थी। अपनी कुछ और कोई भी बात कहने का अधिकार अब उसे नहीं है। क्या स्वामी के बाद वह उसकी व्यक्तिगत बातें जानने का अधिकारी आज भी है? क्या वह उससे सब कह और कुछ पूछ भी सकती है? पति की आज्ञा क्या ज़रूरी नहीं होगी? आज अब वह अपनी गृहस्थी में है। उसका अपना एक अधिकार और एक ज़िम्मेदारी भी है।

"क्या रोग है?"

"जब से यहाँ आई, खाना हज़म नहीं होता और साथ-साथ हल्का बुख़ार भी रहता है।"

"सुना, सेन यहाँ अच्छे डाक्टर हैं। साँझ को उनको ले आऊँगा।"

"वही आकर आबदाना नहीं बढ़ा सकेंगे।"

"क्या?"

रज्जो चुप रही।

महीम ने उस गुमसुम बैठी रज्जो को देखा। आज उसे अपनी कुछ भी फ़िक्र नहीं। कल उसके लिए लाई साड़ी, सिलाई-बुनाई की किताबें, ऊन की पिंडिया, लटकन का जोड़ा, यह सब देने की याद उसे न रही थी। अब वह सब कुछ देगा। लेकिन उसकी धारणा ग़लत निकली। अब आज रज्जो को काढ़ने-बुनने का शौक़ कहाँ रह गया है। उसे तो अपने शरीर के हिफ़ाज़त तक की फ़िक्र नहीं। उससे सहज छुटकारे की माँग वह बार-बार करती है। क्या उसे अब यही पाना बाक़ी रह गया है? इस घर की ग़रीबी के साथ उसने अपने को मिटा दिया है। अन्दर-ही-अन्दर मन में घुलती है। उसका पति ऑफ़िस में नौकरी करता है। रज्जो के लिए सब सहूलियत देता है। किन्तु मध्यवर्गीय परिवार का रूखा वातावरण, कुछ भी जहाँ व्यवस्थित नहीं, बात-बात में पैसे की रुकावट, यह सब रज्जो को डस गया है। हँसी-ख़ुशी में पली रज्जो के लायक़ यह परिवार ठीक नहीं था?

'भर-भर', महीम ने दियासलाई बाल कर, सिगरेट सुलगा ली। रज्जो चौंकी। बोली, "फिर सिगरेट। अब तो पूरे नशेबाज़ बन गये हो। चाची को चिट्ठी में लिखूँगी।"

"मेरी शिकायत!"

"कह दिया, सिगरेट पीनी ठीक नहीं होती। अपने मन के हो गये हो। तब कुछ भी कहना बेकार है। पुराने हुक्का

पीते थे, तब क्या काम नहीं चलता था।" रज्जो उठी और ढूँढ़-ढाँढ़कर हुक्का ले आई। फिर भरकर महीम के आगे सरका दिया।

"घर की मालकिन हो, मेहमान का आदर होना ही चाहिए।" कह, महीम ने इतमीनान से हुक्का पीना शुरू किया—गुड़-गुड़-गुड़।

"अब तो चाची से नहीं झगड़ते होगे।"

"झगड़ा? वह तो रोज़ का धन्धा है। माँ तो हर बात में कुड़कुड़ाहट करती है। उसे मौत आ जाती, छुटकारा मिल जाता।" बोला ही महीम।

"राम-राम! ऐसी बात न कहो। चाहते होगे, इधर-उधर के लुच्चे-लफंगे, घर में चौकड़ी जमा, रात-दिन बैठे रहा करें। तब स्वतंत्र हो जाओगे न।"

"रज्जो।" अनायास महीम के मुँह से छूटा। यह शब्द सुनकर रज्जो के शरीर में जीवन आया। सब और सारा रोग भागता लगा।

और इस तरह पुकारकर, महीम स्वयं असमंजस में पड़ गया। देखा उसने, रज्जो चारपाई पर बैठी चुपचाप पाँव हिला रही है। कुछ देर बाद वह बोली, "सुना, पिछले साल चाची यात्रा गई थी।"

'गुड़-गुड़-गुड़', महीम हुक्का पी रहा था।

"तुम्हारी शादी का क्या हुआ?"

गुड़-गुड़-गुड़, हुक्का चालू ही रहा।

"चाची की मरज़ी डिपुटी साहब की लड़की से थी। अब तो पक्का हो गया होगा। पिछले दिनों सुमित्रा ने यही लिखा भी था।"

गुड़-गुड़-गुड़............।

"अब के जाड़ों में होगी। मुझे ज़रूर बुलाना।"

लेकिन फिर वही गुड़-गुड़-गुड़............।

इन सब बातों का जवाब तो रज्जो खुद जानती थी। फिर भला महीम क्या बतलाता। यह तो रज्जो वैसे ही कुछ पूछने पूछ रही थी। निरा खेल जैसे खेल रही हो। रज्जो को उसके घरवाले, पहिले कई बार बुला चुके हैं। वह यहाँ बँध गई है। छोड़ नहीं सकती। मन में एक भारी निम्नता दबोचे रहती है। अपनी ग़रीबी के कारण, पिता का घर तक त्याग चुकी है। सबसे अलग रहने की ठान, किसी से भी मतलब नहीं रखती। महीम के बुलाने पर भी थोड़े ही जावेगी। एक उलाहना, बहाना बना वह सौंप चुकी। जो निरी उसकी भावुकता का उफान था।

महीम भी अपनी 'गुड़गुड़ी' के बीच निश्चित बैठा देख रहा था रज्जो को। उसकी सारी बातें सुन, उसकी गृहस्थी को समझ रहा था। यहाँ जबसे वह आई, एक दिन भी खुश नहीं रही। अपने मन में मैल जमाकर, बीमार पड़ गई है। दु:ख मोल ले लेना ही अब उसका धन्धा है। भविष्य

का कोई भी ख़याल उसे थोड़े है। चाहे रज्जो मज़ाक़ करे या सहज ही कुछ बात कह दे, एक दुःखान्त की भावना अनायास महीम के दिल को घेर लेती है। यह सब पा, उलझ, वह बेचैन हो गया है। महीम व्यवहार में भले ही पक्का हो, फिर भी कच्ची चोटें उसे बेचैन बनाती ही हैं। रज्जो के पति को वह देख चुका है। उसके प्रति उसे कोई गुस्सा नहीं। अपने प्रति वह लापरवाह हो-हो, पत्नी के लिए सब कुछ उठाये है। नौकरी, उसके बाद संध्या को दवाख़ाना और रज्जो की फ़िक्र। यह सब बातें वह किसी से नहीं कहता है। अपनी बीबी के ख़ातिर सब मुसीबतें उसे स्वीकार हैं। उसके चेहरे से कहीं भी परेशानी ज़ाहिर नहीं होती है।

रज्जो उसी तरह चारपाई पर बैठी रही। धोती पर एक ओर हल्दी का पीला बड़ा धब्बा पड़ा हुआ था। किनारे पर वह जली भी थी, जिसे सीकर सुधारा गया था। उसकी बचपनवाली तुनुक-मिज़ाजी न-जाने कहाँ चली गई थी। यह रज्जो पिता के घर में ज़रा-ज़रा सी बात पर नाख़ुश हो जाती थी, आज वह बात बिसार चुकी है। पति ही उसका सब कुछ है। उसके जीवन-आड़ में दुबक-दुबककर सावधानी से चला करती है। इधर-उधर की दुनिया से उसे कोई सरोकार नहीं। अपने जीवन की सारी उम्मेदें पति को सौंपकर और कोई भी चाहना अब उसे

नहीं है। छोटी-छोटी बातों पर वह नहीं सोचा करती है। पहले अपने को खूब कोसा करती थी। वह आदत भी छूट गई। लाचारी को लाचारी मान, अधिक पिछली बातें नहीं दुहराती। अब आज के जीवन को सही गिनती है। पिछली चर्चा को धोखा साबित कर चुकी है।

तो रज्जो धीरे-धीरे अब फिर बोलने लगी। सब कुछ कहना जैसे कि उसे हो। बोली, "अच्छा हुआ, आ गये। अपने गाँव का आदमी बरसों में देख पड़ता है।"

"तू गाँव चल। ताई ने कहा था, साथ लेते आना।"

"गाँव। वहाँ अब अपना क्या है।" रज्जो हँसी। कहा ही फिर "देखो, कब जाना होता है। उनसे पूछूँगी।"

'उनसे' पूछकर रज्जो चलेगी। ताई और महीम के अधिकार से ऊपर एक और हैं। उनकी आज्ञा मानकर वह चलती है। तब महीम क्या कहता।

"किसन की माँ अब कैसी है। बेचारी ने कभी भले दिन नहीं देखे हैं।"

"वह तो पिछले साल मर गई।"

"मर गई, तर गई।" सरलता से वह बोली। मौत पर जैसे कि एक स्वाभाविक विश्वास हो गया है।

बोला महीम, "जुलाई का महीना था। चार दिन से लगातार पानी बरसता रहा। मेह रुकता ही नहीं था। सुना कि वह मर गई है। हम लोगों ने बरसाती ओढ़ी

और अपने कंधों पर लादकर बुढ़िया को गंगा के किनारे पहुँचा दिया।"

यह भारी बात कहकर महीम ने फिर सिगरेट सुलगाई। रज्जो ने रोक-थाम नहीं की। वह अब ज्यादा किसी बात पर नहीं कहती है। चुपचाप देख रही थी। महीम सिगरेट के धुएँ के बीच बार-बार छुप जाता है। आज वह चिक-की आड़ में कैसा परदा किये बैठी है। ठीक, यह महीम उसके जीवन के बीच एक अड़चन-सा है। उसे वह समीप पा अपने समूचे दुःख को भूल जाना चाहती है। अपना हृदय उसके आगे वह खोलेगी नहीं। उसने उसे आज तक जितना सरल पाया है, आज अब वह वैसी नहीं है। पहले-पहले पति के साथ एक 'विद्रोह' में, वह झगड़ा करती थी। अब वह भावुकता चूक गई है। निरस आज का जीवन है। उसके हृदय में एक ताला पड़ गया है, उसे महीम भी खोलने की क्षमता नहीं रखता है। अपनी बेबसी और घरेलू बातों को वह महीम तक से नहीं कह सकती है। सन्देह की भाँति एक उपहास वह उसके प्रति होगा। उसके सगे अब वे सब नहीं हैं। वह उनके लिए बिरानी है। और उसके लिए वह दूर के। उनका दावा इतना ही है कि वह उनके गाँव की लड़की है। वहीं पली और खेली। एक दिन समझदार होने पर, जब वह उस गाँव से बिदा हुई, तभी सारा नाता-रिश्ता, उसी गाँव

में बहते आँसुओं से पोंछ आई थी, और इस घर में पहुँचते पहुँचते हृदय खाली हो चुका था। वहाँ पति ने जगह पाई।

रज्जो अनायास सवाल पूछ बैठी, "अब क्या करते हो?"

"कुछ भी नहीं। खाली हूँ।"

"बी० ए० पास कर लिया?"

"नहीं........।"

"तब लगता है चाचाजी के नाम की परवाह तुमको नहीं। चार पैसा जब तक है, सब दोस्त हैं और फिर....।"

रज्जो की इस समझ पर वह क्या कहता। वह तो व्यवहार-कुशल थी। महीम का अपना अनुभव भी कुछ ऐसा ही है। दुनिया को वह बहुत कठोर और कठिन पाता है। इसीलिए चुप रहा।

"कहीं अच्छे रोज़गार पर लग जाते, तब हमें भी कुछ उम्मीद होती। चारों ओर किसे अपना सहारा समझूँ। कुछ भी नहीं जान पड़ता।"

और महीम ने अपने मन-ही-मन इस बात की गाँठ बाँध ली कि अब के वह बी० ए० ज़रूर पास करेगा। इसके बिना उसे छुटकारा नहीं है। अपने खातिर नहीं, रज्जो को उत्साहित करने को भी वह यह करेगा।

"बड़ा खराब ज़माना आ गया है। अच्छे-बुरे खानदानों में कोई फ़र्क़ नहीं रह गया है।"

बस, रज्जो चुप हो गई। बड़ी-बूढ़ी की तरह बात पूछ,

समझा-बुझा जैसे कि और ज्यादा नहीं कहेगी। महीम आँखें मूँद चुपचाप न-जाने क्या सोच ही रहा था।

"नींद आ रही है क्या।" रज्जो ने पूछा।

"नहीं-नहीं", महीम ने आँखें खोल लीं।

"आराम कर लो। कल रात सफ़र में नींद नहीं आई होगी।"

"नहीं तो!"

"मेरी भी तबीयत आज ठीक नहीं।"

"ठीक नहीं है।" महीम ने दुहराया।

"हाँ, बीच-बीच में रोग बढ़ जाता है। अब जाओ, आराम कर लो।"

दिन को सोने की आदत भले ही महीम को नहीं थी, उस आज्ञा की अवहेलना वह नहीं कर सका। तकरार करना भूल जाता है। चुपचाप अपने कमरे में जा, लेट गया। रज्जो की गृहस्थी में उसे कुछ कमी लगी। वहाँ जीवन नहीं था। सारे घर पर उदासी छाई हुई थी। जितना उसे ज्ञात था, व्यवस्था उससे अधिक बिगड़ी मिली। रज्जो अपने मायकेवालों को चिट्ठी में कभी कुछ नहीं लिखती थी। 'मैं भली हूँ' इतनी ही अपनी कुशल भेजना उसका अपनत्व था।

झपकी आने लगी। लेकिन पिंग-पिंग-पिंग, मच्छरों ने हमला कर दिया, नींद उचट गई। अब कच्ची नींद की

उदासी में महीम ने सोचा, इसी रज्जो से वह एक दिन झगड़ा था। वह याद बार-बार उभरने लगी। तभी वह रज्जो पर सोचने लगा। स्मृति खुल गई, घटनाएँ बिखर गईं .... ।

उस दिन महीम 'पेस्टिल' से ड्राइंग बना रहा था; वह पौधा—हरी टहनी, नोकीली कुछ पीला पड़ी पत्तियाँ, फिर उस पर खिला लाल-लाल फूल। स्कूल की नुमायश में काग़ज़ पर बने इस फूल को सारी दुनिया देखेगी। महीम ने भी उसे अब दीवाल पर टाँग दिया और एक दर्शक की भाँति उसे देख मन-ही-मन ख़ुश हो रहा था।

"भय्या", रज्जो न-जाने कब से यह तमाशा देख रही थी।

महीम झिझका, फिर कुछ देर तक रज्जो को निहारता ही रह गया। फूल से भी सुन्दर रज्जो थी। रज्जो फूल देख रही थी और महीम रज्जो को। अब रज्जो की आँखें फूल पर से उठ महीम की आँखों में स्थिर हो गईं। सँभलकर बोल बैठी, " अच्छा फूल बनाया है।"

"क्या ?" अनजाने में महीम पूछ बैठा।

"कब से यह बनाना सीख गये ?"

"क्या रज्जो ?"

"यह मुझे नहीं दोगे ?"

महीम क्या कहता, वह तो नुमायश के लिए उसने बनाया था। पन्द्रह दिन उसने मेहनत की और उत्साह से फूला नहीं समाता था कि बहुत-से लोग उसे देखेंगे। रज्जो उसी को माँग रही है। वह माँगकर क्या करेगी। वह उसे नहीं दे सकता है। लेकिन वह रज्जो की पहली माँग थी। आज तक उसने कभी कुछ नहीं माँगा। वह कभी कुछ नहीं कहती थी। महीम की बातों को मान्य गिन, स्वीकार कर लेना ही उसने तो सीखा था। वही जैसे कि उसका अपना कर्तव्य था। लेकिन आज........।

"बोलो दोगे न", कहकर रज्जो दीवाल के पास पहुँच कर उस काग़ज़ को उतारने लगी।

"यह क्या ?" महीम उलझन में बोला।

"उतार दो।" रज्जो ने अनुरोध किया। कहती रही, "कैसे तुमने इसे बनाया है।"

"रज्जो !"

"देखो मुझे दे दो।"

महीम असमंजस में पड़ गया। कुछ भी जवाब न दे सका।

"मैं पेटीकोट पर फूल काढ़ूँगी।" रज्जो ने पूरा सवाल हल किया।

तो, बेचारे महीम की इतने घंटों की मेहनत अब खेल बन जावेगी। सफ़ेद दुसूती पर तक उसकी सीमा है।

यह माँग तो अनुचित है। उसके मास्टर क्या कहेंगे। और जिन लड़कों के आगे वह डींग हाँक आया था। वह इन्कार कर देगा। तब रज्जो क्या कहेगी। उसने भी अपने किसी अधिकार से फूल माँगा है। यह रज्जो जब से कुछ बड़ी हुई, महीम उससे बातें करते झेंप जाता है। यह झेंप कभी अवज्ञा बन जाना चाहती है। पिछले सालों तक तो रज्जो उसके पढ़ने की मेज़ पर किताबें इधर-उधर बखेर दिया करती थी। यदि वह कुछ कहता, तब रोना ही उसने सीखा था। एक दिन ज़रा कुछ समझदार हुई। खुद भी किताबें पढ़ने की ठान, उसके मेज़ के पासवाली मेज़ पर चुपचाप बैठकर पढ़ाई शुरू कर दी। महीम फ़ौरन् मास्टर बन बैठा। वह सिखलाता—कैट माने बिल्ली।

रज्जो कहती—क्येट म्याने बिल्ली।

वह सुधारते कहता—क्येट नहीं कैट।

रज्जो अपनी गलती पर हँस, उसी की तरह मुँह बना फिर कोशिश करती। कभी ऐसी शरारतों पर झल्लाकर वह उसके कान पकड़कर उसे सज़ा दे देता था।

"क्यों दोगे या नहीं।"

महीम ने बात तोलकर जवाब दे दिया, "नुमायश के लिए बनाया है।"

"नुमायश! अब हमें नहीं चाहिए।" कह, झुँझलाकर रज्जो चली गई।

रज्जो फिर कभी पास नहीं आई; झेंपा-हारा महीम भी कभी उसके आगे नहीं पड़ा। उसकी शादी हुई। वह दुलहिन की हैसियत से अपने पति के साथ ससुराल भी चली गई। वहाँ गृहस्थी में अपनी एक जगह उसने बना ली। लेकिन रज्जो झगड़ कर गई थी। वह झगड़ा कहाँ मिटा था। रज्जो तो कहना चाहती थी—ओ महीम, क्या पहले कुट्टी कर, फिर हम मिट्ठी नहीं कर लिया करते थे। आज ही अब सयाने बनकर यह कैसा बरताव बरतना सीख गये हैं। हमारी अपनी 'अहमता' व्यर्थ आपस में रुकावट डाले हुए है। अपने मन में ही बात उमड़-घुमड़ कर रह जाती थी। बड़ी होकर जैसे कि उसे अब महीम को मनाना नहीं था। वह चाहती थी, पर एक शील और लाज की वजह चुप रह जाती। वह कहीं अपराध साबित न हो जाय, एक भय दिल में अनायास उठता था। वह स्वाभाविक न भी हो, अचैतन्य उसके ऊपर अपना भार सौंप गया, अन्यथा कहीं और कुछ भी अड़चन नहीं थी। जब ही वह तर्क करती—यह रूठना ग़लत था। वह उससे माफ़ी माँग लेती। तभी वह देखती 'झेंपू' महीम दूर-दूर भाग जाता है। पास-नज़दीक आना वह छोड़ चुका है। फिर झगड़ा कैसे मिटता। वह किसी तरह का निपटारा न कर सका। जैसे कि सब कुछ असाध्य हो। रज्जो अपने जीवन में इस झगड़े की गाँठ बना चुपके ससुराल चली

आई। वहाँ वह गाँठ फिर कभी ढीली नहीं पड़ी। वह चाहती थी कि चिट्ठी लिखकर माफ़ी माँग लें। अपने में मन मारकर रह जाती थी। तभी पति आकर गाँठ को भारी कर देता। वह पति के पास ही रह जाती थी। सब और सारा झगड़ा दूर हट जाता। केवल बहाने ढूँढ़ लेने को उसे वक़्त ही नहीं मिलता था।

महीम ने अपने उस व्यवहार के बाद जब एक दिन नुमायश में इनाम पाया, तभी उसे लगा कि रज्जो एक भारी चोट लगाकर चली गई है। वह घाव अब दुखने लग गया। वह क्या इलाज करता। घाव तो फिर दुखता-दुखता, दुखता ही रहा। उसे फिर भी विश्वास था कि एक दिन वह रज्जो को मना लेगा। जैसे कि रज्जो पर अभी भी उसका अपना अधिकार हो। जहाँ उसकी सरल पहुँच है। रज्जो के पति पर उसने अधिक विचार नहीं किया। फिर एक दिन वह बात कुछ धुँधली घटना-मात्र रह गई। कुछ कभी उसे रज्जो की याद आती, तो वह उसे अपनी पहुँच से दूर पाता। वह अपने में सवाल करता, रज्जो भी ज़रूर इसी तरह बदल गई होगी। भूल-भाल फिर सब कुछ जाता था। उस झगड़े का निपटारा दूसरे, तीसरे, चौथे दिन से महीने पार कर गया था। रज्जो चली गई थी। साधारण व्यवस्था कर उसने निर्णय किया था कि कभी आगे जीवन में जब मिलेगी, तब ही सब और सारी बातें हल होंगी।

सात साल बाद जब उस रज्जो के घर पहुँचा तो कहीं भी झगड़े का चिह्न नहीं मिला। रज्जो ने तो उसी तरह दोनों हाथों से उसके पाँव छू लिए थे। दिल के घोसले में बैठा झगड़े का पालतू पत्ती स्वयं छुटकारा पा गया। वह उसी तरह उसको पहचानने लगी, फिर भी कोई ख़ास उत्साह उसमें नहीं मिला। वह तो रोज़ में रल गई थी, जिसे दैनिक जीवन कहते हैं। महीम रज्जो को यदि वैसी ही पुरानी समझता था, तो वह उसकी भूल थी। रज्जो वही थी, चेहरा कुछ फीका, शरीर दुबला, बातों में जीवन नहीं। कहीं हँसी नहीं, बचपनवाली शेख़ी न थी। यह कैसा परिवर्तन था ? जैसे वह परिवर्तन बार-बार पैने डंक महीम के हृदय में मारने लगा। सात साल के छोटे-से अरसे में ही वह तो बड़ी-बूढ़ियों-जैसी बन गई थी। तोल-तोल कर बातें करना, ठीक और वक़्त पर हँसना। सीधी और सही बातों का जवाब देना। जैसे उसने अपने जीवन का हिसाब रखना शुरू कर दिया हो।

विचारों की ऊबड़-खाबड़ घटनाओं के बीच न-जाने कब उसे नींद ने धोखा दे दिया था।

"क्या सोये हो ?" रज्जो ने आकर जगाया।

महीम ने आँखें खोलीं। रज्जो ने हुक्का ज़मीन पर रख दिया। और हँसकर बोला महीम, "इस तरह तो आदत पड़ने की नहीं है।"

"भाभी को सब सिखला दूँगी।" रज्जो हल्के मुस्कराई।

"सिगरेट तो शौकिया पीता हूँ। खाली वक्त इससे सहज ही कट जाता है।"

"पुराने लोग नहीं पीते थे। तब उनकी भी निभती ही थी।"

"आज तो नया ज़माना आ गया है।"

"चाय तो नहीं पीते हो।" रज्जो ने पूछा।

घर के आदमी को वह मेहमान नहीं मानेगी। वह उससे साधारण व्यवहार क्यों बरते।

"पीता तो हूँ, लेकिन ख़ास ज़रूरत नहीं है।"

"तो बना लाती हूँ।" कह, रज्जो जाने को थी कि महीम ने टोकते हुए कहा, "तबीयत क्यों बेकार ख़राब करती हो। मुझे नहीं चाहिए।"

"तबीयत ....!" रज्जो आगे नहीं बोली। महीम को तो आज भी उसके सुविधा-असुविधा का ख्याल है। उसकी तबीयत की फ़िक्र है। और बात पी बोली, "भाग्य में जो लिखा है, वह नहीं मिटता। तब भला इन बातों से क्या होता है।" और चुपचाप चली गई।

अब यह रज्जो सब बातें जानती है कि कब क्या ज़रूरत है। सारी व्यवस्था सीख गई है। घर पर कब-कब उसे काम से वास्ता ही पड़ा था। बचपन की वह सारी

तुनुकमिजाज़ी कहाँ चली गई है । लाड़-प्यार में पली थी । कब इसने सोचा होगा कि यह सब एक दिन उसे निभाना पड़ेगा । आज तो कहीं भी अपने को अनजान साबित नहीं होने देती है । पहले ज़रा रूठ जाती थी, तो घर भर खुशामद करता था और आज ?

उस रज्जो के आगे बार-बार झुक कर वह पूछना चाहता था—तुम इतना यह सब कैसे सीख गई हो । आज अब मैंने तुमको सही पहचाना है । तुम इन सात बरसों में जीवन का सही इम्तहान पास कर लोगी, यह मेरी बुद्धि से बाहर की बात थी ।

और रज्जो तो धोती के छोर से चाय का भरा गिलास पकड़ कर ले आई । बोली, "रूमाल निकाल लो, गिलास गरम है ।"

महीम ने जेब से रूमाल निकाल, गिलास ले लिया । चुपचाप एक घूँट पीने की चेष्टा की फिर गिलास ज़मीन पर रख दिया ।

"बहुत गरम होगा ।" कह, रज्जो उठी भीतर से पत्थर की 'कुंडी' ले आई । हँसते सौंपते हुए बोली, "प्याला तो है नहीं ।" अपनी असमर्थता को भी उसने मज़ाक के बीच छुपा लिया । यह इतना ही कहा, जैसे अपनी गृहस्थी के प्रति अधिक व्यंग वह नहीं करना चाहती हो ।

"तुम चाय नहीं पीतीं ।"

"गरम, ठंडा कुछ भी माफ़िक नहीं पड़ता है।" रज्जो ने कहा ही।

महीम सुनकर चुप हो गया। यह रज्जो कितनी निर्जीव हो गई है। यह आशा कदापि उसे नहीं थी। आगे जब उसे देखता है, तो जीवन से निराशा हो बैठता है। दुनिया के दु:ख की छानबीन करने लगता है।

फिर रज्जो ने छेड़ने बात शुरू की, "जाड़ों में तो मुझे आना ही है, चाहे बुलाओगे, चाहे नहीं।" हँस पड़ी।

और उस हँसी के बीच महीम ने आखिरी बड़ी घूँट चाय की पी, गिलास ज़मीन पर रखते कहा, "मना कौन करता है।"

"कुछ और न सही, तुम्हारी बहू को देखने तो आऊँगी ही।"

महीम की शादी की आड़ बना ही रज्जो कुछ ज़रा कुतूहल पाती है। जैसे वह बंधन भी एक खेल हो और अपनी ही उसकी वह बाजी भी हो। महीम भला इस सब का क्या जवाब दे। तब मौक़ा पा वह बोल बैठी, "देखना है कि वह कितनी सुन्दर है। दुनिया भर की लड़कियों पर तो नुख्श निकाला करते थे।"

महीम अपनी लाचारी को साबित कर, सब कुछ सुझा साबित कर कह देना चाहता था—वह तुझ जैसी नहीं है। लेकिन मन में ही बात पी गया।

भला रज्जो चुप रहती, "सुमित्रा ने तो ख़ूब तारीफ़ लिखी है। कुछ पढ़ी लिखी भी है।"

महीम के पास कोई भी ज़वाब नहीं था।

"अपनी तुम्हारी छाँट है। कहीं पूरी मेम तो नहीं है।" रज्जो खिल-खिलाई।

महीम ने शादी की स्वीकृति देकर, फिर उस लड़की पर अधिक सोचना-विचारना छोड़ दिया था। वह तो होनहार है, जिस पर वह कोई राय नहीं देगा। रज्जो उसे 'मेम' साबित करने तुली है। वह उसके जीवन से आगे एक दिन आ लगेगी, पर उस अनजान को वह रज्जो से अधिक नहीं पहचानता है। उसकी बाहरी चटक-मटक ही उसने देखी है। भीतर विचारों की गहराई का अनुमान उसे नहीं है। माँ एक बहू चाहती थी। छोटे भाई एक भाभी। इधर-उधर पास-पड़ोस के लोग मिठाई खाना चाहते थे। तो उसे ही कोई एतराज़ क्यों होता, रज्जो के उत्साह को उभारता वह बोला, "तुमने तो छाँटने का वायदा किया था। अब माँ की छाँट है। मैं तो किसी को कभी मना थोड़े ही करता हूँ।"

रज्जो कुछ शरमा गई। उस बात से उसे अब कुछ भी सरोकार नहीं है। वह भली भाँति जानती थी कि महीम गाँव की सब लड़कियों में उसे भला मानता था। जब कभी वह ककड़ी, आम, अमरूद, मटर की चोरी

को जाता, तो चुपके उसको कान में सारी बातें समझा दिया करता था। उसे यह विश्वास और किसी पर नहीं था। खेल में भी हमेशा वह रज्जो को अपनी ओर चुन लेता था। रज्जो की रक्षा तभी से करनी उसे मंज़ूर थी। महीम के कारण चाची भी उसे प्यार करती थीं। उस घर में भी उसका मान था। महीम के साथ-साथ अक्सर उसे मिठाई भी खाने को मिल जाती थी। आम की फ़स्ल में महीम आम चूसता कहता—मीठा है। रज्जो अनुरोध करती—मुझे भी दे दो। महीम बोलता—नहीं मिलेगा। रज्जो भी कह देती—हम कल खेलने नहीं आवेंगी। बचपन से रज्जो धमकी देना सीखी थी और उसके स्वभाव से भी परिचित थी।

रज्जो ने अब अपने पर कटाक्ष किया, "इस लायक होती तो ?"

"रज्जो !" महीम आँखें उठाकर बोल बैठा।

रज्जो की समझ में ज़रा भी बात नहीं आई। फिर वह सँभली, याद आया कि अभी तो तरकारी भी काटनी है। वे आते होवेंगे। चुपचाप रसोई की ओर खिसक गई। और महीम बैठा ही रहा। न जाने क्या-क्या विचार मन में आए-गए। आखिर पुकारा, "रज्जो।"

"हूँ।" रज्जो ने चौके से जवाब दिया।

उठकर, वहाँ पहुँच कर वह बोला, "एक बात है।"

"क्या ?" कुतूहल से रज्जो ने आँखें ऊपर उठा लीं।

"तेरे लिए ऊन और बहुत सी चीज़ें लाया हूँ।"

"ऊन ! क्या करूँगी मैं ! यहाँ तो सिलना-बुनना कुछ भी नहीं होता है।" फिर कुछ सोच कर कहने लगी, "रख लूँगी। अब फिर बुना करूँगी। लेकिन सींकें....!"

"सींकें नहीं हैं क्या ?"

"तीन-चार साल से बुनना छूटा हुआ है। जब से बीमार हुई कुछ काम नहीं होता है। ढूँढ़ूँगी शायद सन्दूक़ में पड़ी हों, लेकिन नए 'डिजाइन' तो मुझे मालूम ही नहीं हैं।"

"किताबें साथ लाया हूँ।"

"अब सीखने की उम्र कहाँ है। जैसा आता है बुनकर भेज दूँगी। पाँच-छे महीने लगेंगे।"

अब तो महीम अन्दर पहुँच साड़ी व और चीज़ें भी ले आया। साड़ी देखकर रज्जो बोली, "बेकार इसमें दाम ख़र्च किए। इसे पहिनकर कहाँ जाऊँगी। मेरी ओर से सुमित्रा को दे देना।"

महीम चुपचाप रज्जो को देखता-देखता ही रह गया।

"इसमें नाराज़ी की कुछ भी बात नहीं है। यहाँ का पहनावा मोटा-सोटा है। इसके बदले मोटी धोतियाँ भेज देना।"

जब लटकन का डिब्बा महीम ने खोला, तो वह हँसने

लगी, कहा ही, "तो अपनी शादी की बिदाई का सामान यहीं ले आए हो कि कौन बुलावेगा ?"

लेकिन एक और भी चीज़ महीम ने दी। वह वही कागज़ पर बना फूल था। वह बोला "इस पर इनाम मिला था।"

"ख़ुशी की बात है।"

"अब तुझे देने लाया हूँ।"

"मैं क्या करूँगी। भाभी को देना।"

"भाभी को ?"

"भला मुझे कौन सा हक़ है।"

"हक़ ?"

"नहीं तो क्या सात साल में एक चिट्ठी का टुकड़ा तो डालते।"

"रज्जो ?"

"दुनिया स्वार्थी है। माँ और चाची ने ज़ोर किया होगा, तब आज लिवाने आये हो। मैं वहाँ जाकर ही क्या करूँगी। इस गृहस्थी में जब एक दिन आई हूँ, तब कुछ दिन और जीकर अपना कर्तव्य निभा लूँ।"

बात न पकड़, महीम बोला, "कुछ दिनों को वहाँ चली चलो।"

और देखा उसने, रज्जो का दुःख उमड़ चुका है। टप-टप-टप आँसू बह रहे थे। वह समझदार नारी जो जीवन

में सही और ग़लत की पूरी-पूरी पहचान रखती है, अब बच्चों की तरह सिसक-सिसक कर रो रही थी।

"साथ तुम चली चलो रज्जो।" कहा ही महीम ने।

लेकिन रज्जो ने आँसू पोंछ लिए थे। वह चुपचाप तरकारी काट रही थी। कुछ देर बाद एकाएक उठी, बोली, "तुम खड़े ही हो। मोढ़ा ले आऊँ।" मन्थर गति से चली गई।

महीम मना तक नहीं कर सका। वह कैसे कहता! रज्जो तो मोढ़ा ले आई थी। यह लड़की बचपन में कब-कब उसके आगे नहीं रोई। तब इतना चीखती थी कि सारा मोहल्ला सिर पर उठा लेती थी। आज भी तो वह रोना जानती है। अब वह स्वयं अपने पर हथियार चला लेती है। रोकर पीड़ा विसारना ही अब सीखा है।

रज्जो तो अब रसोई में तरकारी छौंक रही थी। चुपके महीम बाहर चला आया। इधर-उधर टहलता रहा।

साँझ को रज्जो का स्वामी लौट आया। दोनों चुपचाप खाना खाने बैठ गए। रज्जो सावधानी से परोस रही थी। महीम ने उनसे पूछा, "बहुत काम रहता है क्या?"

"कुछ न पूछिए बैंक की ही नौकरी ठहरी।"

तभी मौका पा रज्जो बोली, "बुलाने आए हैं। जैसे कि मैं एक मिनट में तैयार होकर चली जाऊँगी।"

"कुछ दिनों को चली न जावो। हवा बदल जावेगी।" पति बोले।

"अभी तो जाना नहीं हो सकता है। जाड़ों में देखी जावेगी।"

महीम चुप रहा। खा रहा था कि रज्जो रोटी थाली में डालने लगी। वह बोला, "नहीं-नहीं।"

तो बोली रज्जो, "यहाँ का खाना अच्छा क्यों लगने लगा। ठीक तरह तरकारी भी यहाँ थोड़े ही मिलती हैं।"

महीम फिर भी खाता ही रहा।

खा पीकर महीम ने रज्जो के स्वामी से कहा, "रात की गाड़ी से जाने में सुभीता रहेगा।"

"आज ही।"

"रज्जो तो चलती नहीं है। उधर मुझे भी कई काम हैं।"

वे कुछ भी नहीं बोले। महीम कमरे में जाकर अपना 'हॉल-डॉल' बाँधने लग गया।

अब पति रसोई में आकर बोले, "महीम बाबू जा रहे हैं।"

"आज ही!"

"हाँ........।"

आधे खाने से ही रज्जो उठी। हाथ धो डाला महीम के आगे खड़े होकर सवाल पूछा, "क्या आज सच ही जा रहे हो?"

"हाँ", कह महीम ने 'हॉल-डॉल' पूरा बाँध लिया।

"इस तरह जल्दी क्या है ?"

"........................"

"मुझ से गुस्सा हो।"

"...................."

"मैं उनको इस तरह छोड़कर कैसे आ सकती हूँ। यहाँ का इन्तज़ाम ठीक करना है। मायके जाना भला कौन नहीं चाहेगा।"

"जब तुम्हारी मर्ज़ी हो, तब तुम आना। भला हमारा अधिकार ही क्या है।"

"अधिकार ?"

"नहीं रज्जो वहाँ भी कई काम पड़े हैं।"

"सोचा था दो-चार दिन रहोगे।"

महीम चुप !

"जाओ, पर कभी-कभी कुशल भेजते रहना।"

महीम चला आया। रज्जो को उस रात्रि भारी ज्वर रहा।

महीम की शादी के दिन ज्यों-ज्यों समीप आते चले गए, उतना वह उद्विग्न हो उठा। रज्जो तो बिना उसके खुद गए, आवेगी नहीं। इसीलिए चुपचाप एक दिन वह उसे लाने की तैयारी करने लगा। 'कार' में सामान लग

गया । वह 'कार' से जावेगा, गोल कमरे में बैठा-बैठा वह विचारों में लीन था कि उसकी माँ आई । उसे तैयार देख बोली, "कहाँ जा रहा है महीम ।"

"रज्जो को लिवा लाने..........?"

कुछ और कह भी नहीं पाया था कि उसकी माँ ने बात काटी, "चल जीजी के पास । वहाँ सुना सुबह से रोना-धोना मचा हुआ है ।"

"क्या माँ ?"

"तूने नहीं सुना । रज्जो तो...........!"

और महीम गद्द से सोफ़ा पर बैठ, फूट-फूट कर रोने लगा ।

× × ×

आख़िरी-स्केच

"मुझे '—' होटल जाना है।"

" '—'होटल !" विनोद अचकचाकर बोला।

"हाँ, वहाँ पुष्पा अपने पिता के साथ आई है।"

"पुष्पा....! सुना रञ्जन भी तो वहीं रहता है।"

"पुष्पा ! रञ्जन !!"

"उसे देख आना और कुछ पता लगे तो अच्छा ही है।"

मैं बाहर आया और चुपचाप उनके होटल की ओर चल पड़ा। पुष्पा का ध्यान आज अधिक था। मैंने पुष्पा को पिछले कुछ सालों से नहीं देखा था। ज़रा उसकी याद आती, पर वह बेकार थी। अब वह कुछ और हो गयी होगी—ऐसा विश्वास था। विश्वास........। वैसे पुष्पा, नहीं पुष्पा नाम भले ही पुराना हो—पुष्पा पुरानी नहीं होगी। समय के साथ एक भारी अन्तर उसमें आ गया होगा। बहुत दूर खड़ी पुष्पा का ख़ाका टटोलकर भी कुछ

समझ में नहीं आता था । अब वह ज्यादह दूर लगती थी—वह युवती होगी । उसी युवती पुष्पा पर सोचता-सोचता आगे बढ़ रहा था । भले ही वह बिलकुल समीप लगी खड़ी न थी, फिर भी उसे देखने का एक नया उत्साह था, उम्मेद थी । आज की पुष्पा का वास्तविक रूप दिमाग़ में था; जहाँ पिछली रूप-रेखा इतनी धुँधली पड़ गयी थी कि गौण में गिन अथवा मान लेने को दिल राज़ी नहीं था । हृदय में एक नयी भावना थी । सजी-सजायी, सजीव, ज्ञेय और पूर्ण—मैं पुष्पा हूँ । मैं ही हूँ वह, अब ख़याली बातें दूर करो । मुझे पहचान लो, समझ लो, मैं तुमसे दूर कब थी ।

पुष्पा से वास्ता पड़ा था । कुछ साल पुरानी बात थी । और वह भूली लगती है । कुछ चुटकियों के अलावा कुछ भी पास नहीं था ।

कि होटल पहुँचा । कमरे के बाहर से देखा पुष्पा 'सोफ़ा' पर बैठी किसी अँगरेज़ी की पुस्तक से उलझी थी ।

बाहर खड़ा का खड़ा, ठिठका रह गया । पुष्पा वही पुरानी थी । पर कुछ बड़ी, कुछ खिली और लगती थी सुन्दर भी । वही थी पुष्पा, जिस पर राह-भर गुनगुनाता रहा था । 'गुन-गुन'—एक मनबुझाव, हृदय का सन्तोष ! और उस 'गुन-गुन' में अपने को ढूँढ़ लेना चाहता था—ढूँढ़ लेना ! लगा था कि सुबह से, पुष्पा के पिता का पत्र

पाकर कहीं कुछ कमी आ गई है, कुछ खो गया था, और वह........

फिर पुष्पा को देखा—वह तन्मय हो पुस्तक पढ़ रही थी; उसकी नीली-नीली साड़ी देखी, ठोड़ी, एकाग्रता से पढ़ती आँखें। उसका सारा व्यक्तित्व समेटकर अपने से लगा लिया। और वह तो कहाँ थी अपने से बाहर, अपने में ही डूबी थी, रही।

अब मैं ज़रा साहस कर बोला—"क्या मैं अन्दर आ सकता हूँ ?"

पुष्पा का ध्यान बँटा। वह खड़ी हो सपसपाती बोली—"तुम....!"

फिर खड़ी ही रही। कोई आगे नहीं बढ़ सका।

मैंने आँखों से कमरे को इधर-उधर टटोलते देखकर कहा—"आपके पिताजी कहाँ हैं ?"

पुष्पा सँभलती बोली—"वे बड़ी देर तक आपका इन्तज़ार करते-करते आख़िर घूमने चले गये हैं।"

पुष्पा खड़ी की खड़ी थी, और मैं ?

पुष्पा बोली—"बैठिये।"

मैं चुपचाप बैठ गया।

कैसे बातें शुरू की जावें, कुछ समझ में नहीं आया। काफ़ी देर बाद पूछा—"आप लोग कब तक यहाँ रहेंगे।"

"यह तो डाक्टर की राय पर है। पिताजी का स्वास्थ्य पिछले साल से ठीक नहीं है।"

इसी बीच मैंने देखा कि रञ्जन बाहर की ओर चुपचाप चला जा रहा है। पुकारा, "रञ्जन, रञ्जन ?"

और उठकर बाहर चला गया। देखा, रञ्जन आगे निकल गया है। इधर-उधर कहीं भी दिखलाई नहीं दिया। शायद उसने आवाज़ नहीं सुनी।

कमरे में लौटा ही था कि पुष्पा ने पूछा—"क्या आप रञ्जन को जानते हैं ?"

"रञ्जन को ?"

"हाँ, अजीब आदमी है। पिछले साल हम मसूरी गये थे, तब वह भी हमारेवाले ही होटल में टिका था और अब के........।" पुष्पा के कहने में उपेक्षा का भाव था, मानो कि रञ्जन पर उसे कोई श्रद्धा नहीं।

मैंने बातें सुधारते कहा—"रञ्जन को ख़ुद मैं भी ख़ूब नहीं जानता हूँ। वैसे वह हमारा साथी है। भले ही हम उसके बारे में अधिक न जानते हों, फिर भी साथ-साथ रहते हैं। उसके बारे में हम जानना भी ज़रूरी नहीं समझते हैं। 'हिल स्टेशन' के दोस्तों की 'लिस्ट' बनाना रेल के डिब्बे में बैठे मुसाफ़िरों को गिनने से अधिक बेवक़ूफ़ी की बात नहीं है। ज़िन्दगी को बेकार एक और बोझे से बाँधना बेकार लगता है।"

पुष्पा चुप रही।

—सच बात यह थी कि रञ्जन के बारे में हम कुछ नहीं जानते थे। वह हमारे नज़दीक आया और एक दिन हमने महसूस किया कि वह हममें मिल गया।

रञ्जन कौन है, कहाँ रहता है, क्या करता है—यह कोई भी नहीं जानता है। किसी को जान लेने की फ़ुरसत भी नहीं है। हाँ, रोज़ सन्ध्या को वह मिल जाता है। बड़ी रात तक सब साथ रहते हैं। और उसके चले जाने के बाद, बड़ी देर तक उसी की बातों को दुहराते और उन पर ही सोचते हम रह जाते हैं।

'हिल-स्टेशन' के उस जीवन में, हमारे बीच रञ्जन का मुख्य स्थान था। अन्यथा निरुद्देश्य सड़कों पर घूमने, चिलगोज़ों, साड़ियों, जम्परों को घूरने व उनके सौन्दर्य की व्याख्या कर, बड़ा वक़्त गँवा देने के हम आदी थे। दिन-भर थक जाने के बाद, यही काम बाक़ी रह जाता था।

रञ्जन को 'ब्रिज' ख़ूब आता है। साथ ही वह 'स्केच' भी ख़ूबी से बनाता है। उसका कहना है कि 'ब्रिज' और स्केच—पेन्सिल की रेखाओं के जाल से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

'ब्रिज' के खेल को वह अपनी ज़िन्दगी से तोलता कहता कि, 'ब्लफ़' कर कई सफल हुए, कई अपनी निम्नता से

हार जाते हैं। और 'ब्रिज फ़िलासफ़ी' को जीवन पर लागू करने से मनुष्य सावधानी से चलना सीखता है। और इसे ही वह 'ज़िन्दा-फ़िलासफ़ी' गिनता है। अक्सर वह 'ब्रिज' पर मोटी-मोटी किताबें पढ़ता है। 'स्केच बुक' और मोटी-मोटी पेन्सिलें भी जेब में हर वक़्त रहती हैं।

रञ्जन जवान है, सुन्दर है और हमेशा 'टिपटो' सिगार मुँह में लगाये रहता है। 'सूट' के साथ अलग-अलग डिज़ाइन की टाइयों और जूतों का भी उसे पूरा ख़याल रहता है।

उस दिन सन्ध्या को रञ्जन ने आते ही कहा—"आप लोग मुझे माफ़ करेंगे। आज मैं आप सबको '—' रेस्तराँ में चाय पीने का न्योता देता हूँ। भले ही एकाएक यह ख़याल मुझे आया, मुझे विश्वास है कि आप ना नहीं करेंगे। चलिये, सब सामान तैयार है।"

किसी ने आनाकानी नहीं की। सब लोग चुपचाप उसके साथ हो लिये।

राह-भर वह किसी से नहीं बोला। कोई बातें नहीं हुईं। वह लापरवाही से चल रहा था। लगता था कि अपने से झगड़ रहा हो। वह थका दीखता था। गम्भीर था। बातों का चौंकता अधूरा जवाब मिलता। उसके 'मूड' से सब आश्चर्य में थे। चुपचाप ही सब आगे बढ़े।

'रेस्तराँ' की कुर्सियों पर बैठ ख़ूब चाय उड़ने लगी।

बार-बार बीच-बीच में रञ्जन की ऊँची आवाज़ सुन पड़ती थी : "ब्वॉय 'मटन चॉप', सामी...."

सब चाय पीने में लगे थे। रञ्जन ने दूसरा प्याला चाय का समाप्त कर कहा—"सुनिये, मैं आज आप लोगों को एकदम नयी बात सुनाने लाया हूँ। आप उस पर विश्वास करें, न करें। मेरी हँसी ही उड़ावें—इससे भी मुझे एतराज़ नहीं। अविश्वास की सत्यता में ही विश्वास है। जिसे हम अविश्वास गिनते हैं, वही हमारा विश्वास है। फिर अपने विश्वास को दूर नहीं हटाया जा सकता है। और मैं तो 'सेन्टिमेन्टस्' को भी नहीं मानता हूँ। उन पर टिकना नहीं चाहता, फिर भी मैं उनसे अलग नहीं। अलग रहकर भी साथ हूँ। यही उलझन, समस्या, पहेली हमारी पूर्णता है।"

सब लोगों ने रञ्जन को देखा। मानों कि इतना कह देना एक नयी बात हो। वह दलीलों और तर्क का आदी नहीं था।

रञ्जन कहता गया—"कल रात मैंने एक ख्वाब देखा। एक आदमी। लम्बा चोग़ा पहिने, काली दाढ़ी, अन्दर घुसी पीली-पीली आँखें,—वह मेरे पास आया। उसने मुझे ग़ौर से देखा, बार-बार ख़ूब घूरा। वह मुझे पहचान-सा रहा था। फिर वह हँस पड़ा। मानो वह कुछ पा गया हो। तब उसने अपने हाथ से मेरा हाथ पकड़ा।

उसके हाथ में निरी हड्डियाँ थीं। और मुझे एक पुस्तक दी, उसमें कई 'स्केच' थे।

"मैंने पहला 'स्केच' देखा : मज़दूरिन मर रही थी। उसके नज़दीक कोई नहीं था। मक्खियाँ चारों ओर भिन-भिना रही थीं। और उसका बच्चा दूध पी रहा था....

"दूसरा : एक युवती बैठी अपने प्रेमी की बाट जोह रही थी। उसकी आँखों में उत्सुकता थी........

"तीसरा : एक युवती अपने स्वामी से झगड़ रही थी। पति-पत्नी दोनों की आँखों से घृणा टपक रही थी। जैसे विश्वास का पवित्र सूत्र टूट चुका हो....

"चौथा : बच्चा मर रहा था। माँ प्रेमी को पत्र लिखने में मशगूल थी।

"पाँचवाँ, छठा, सातवाँ....।

"हाँ ग्यारहवाँ : सड़क के किनारे भिखारिन मरी पड़ी थी। छोटे-छोटे बच्चे उसके ढेले मारते, अपना खेल खेल रहे थे।

"बारह, तेरह, चौदह....

"इक्कीसवाँ : पति को प्रेमी ने मार डाला था। युवती पति की लाश कुचलती प्रेमी के पकड़े जाने पर दुखी थी।

"एक-एक स्केच दिल पर क़ब्ज़ा कर लेता था। मनुष्यता, दुनिया और सभ्यता का नग्न खाका उनमें था। और

आखिरी 'स्केच'—मैं काँप उठा, डर गया। मेरी नींद खुल गयी। देखा, दाहिना हाथ छाती पर पड़ा था।

"मैं पसीने से लथपथ भीग गया था....।" कह रञ्जन चुप हो गया।

विनोद को अपने मनोविज्ञान का घमण्ड था, बस पूछ बैठा—"बारी-बारी से सब स्केच देखे थे ?"

"हाँ, एक, दो, तीन, चार करके...."

"और आखिरी स्केच ज़रा देखकर ही अलबम बन्द कर दिया था न ?"

"हाँ.... । आपने यह कैसे समझा ?"

"कोई ख़ास बात नहीं। आपकी इच्छा थी कि आप उसे ख़ूब देख सकते और अभी भी कुछ और उस 'स्केच' को देखने की भूख होगी।"

"भूख....! नहीं, भूख नहीं है। वैसे शायद अब मैं उसे पूरा देख सकने की सामर्थ्य रखता हूँ।"

चाय पीकर विनोद के साथ बाहर निकला और अपने होटल की ओर बढ़ गया। विनोद और मैं एक ही होटल में रहते हैं। विनोद मुझसे पहले आया था। मैं बोला—"बिलकुल नया ख़्वाब है। तुम्हारी समझ में कुछ आया ?"

"वैसे कुछ नया मुझे नहीं लगा। हाँ, साफ़-साफ़ उस पर अपनी राय आज न दे सकूँगा। ख़ुद अभी मुझे कुछ अड़चनें लगीं। रञ्जन को मैं ख़ूब समझ गया हूँ। एक-एक

बात आज तक की मैंने पढ़ी और सोची-समझी। उसके चले जाने पर काफ़ी वक़्त मुझे, उसकी बातों और ख़यालों को सुलझाने में लग जाता है।"

"स्वप्न तो विचित्र है?"

"विचित्र····? उसका मस्तिष्क जो न देखे, कम ही है। और कुछ भी कभी वह सुना सकता है। कल कौन जाने क्या नयी बात हम उससे सुनें!"

—"आप चाय पियेंगे?" पुष्पा बोली।

मैंने पुष्पा को देखा। रञ्जन उसके आगे फीका लगा, नीरस। मैंने कहा, "अभी चाय पीकर ही आया हूँ।"

पुष्पा घण्टी बजा पुकार बैठी, "ब्वॉय! ब्वॉय!!"

कि मैंने टोका—"तकल्लुफ़ी का सवाल नहीं है। सच ही मैंने चाय पी ली है। आख़िर आपके आगे अपने भूखे रहने की शिकायत करते मुझे कोई शरम भी तो नहीं है।"

"यह तो बहाना है।" पुष्पा ने बात काटी—"उस दिन याद है, न हमारे यहाँ से ही आप खाकर गये थे, न 'होस्टल' में ही खाना मिला था।"

"यह बात किसने कही?"

"पिताजी ने।"

और पुष्पा चुप हो गयी।

कि मैं बोला—"यदि यही तक़ाज़ा है, तो कोई हर्ज नहीं।"

पुष्पा खिलखिलायी, कहा—"मन की बात आखिर निकल गयी न!"

और उठी। आलमारी से एक तश्तरी में मिठाई लगा लायी, दूसरी में नमकीन और बड़ी प्लेट पर फल। सब ला बोली—"आप सिगरेट तो नहीं पीते हैं?"

"अब यही पूछने को बाक़ी रह गया क्या पुष्पा!"

पुष्पा नाम सुन ज़रा ठहरी और फिर आगे बढ़कर आलमारी से 'गोल्ड फ़्लेक' का 'टिन' लायी। पास कुरसी पर बैठ गयी।

"तूने तो फिर चिट्ठी भी नहीं भेजी।"

"चिट्ठी! मुझे पता कहाँ मालूम था। और वादा करके तो आप गये थे।"

कौन क़सूरवार था, मैं खूब जानता था। अपने स्वभाव की वजह से मुझे उसे पत्र लिखने का साहस नहीं हुआ था। बोला—"तुम्हारा कहना ठीक है। लेकिन मैंने सोचा कि शायद तुम जवाब न दो।"

"जवाब! सिर्फ़ बहाना ही बनाओगे। यों कहो, भूल गया। चिट्ठी लिखनी नहीं चाही।"

फिर दोनों चुप रह गये। मैं पुष्पा को देख रहा था और वह फ़र्श की दरी के चारख़ाने गिन रही थी।

उसने आँखें उठायीं, बोली—"खाओ।"

"और तुम!"

मानो ऐसा ही कुछ वह सुनना चाहती थी, जिसमें निरा अपनाव हो, कहीं बन्धन और व्यावहारिक सीमा न लाँघनी पड़े। इतनी समीपता जीवन को पूरित कर सुलझा देती! लगता था कि यह कोरा खेल नहीं। यहाँ कुछ और भी छुपा है, जो........

वह अनमने भाव में बोली—"आप खावें। मैं अभी-अभी खा चुकी हूँ।"

"वैसे मुझे भी भूख नहीं है।"

और पुष्पा ने सेब उठाया और चाक़ू से काटकर खाने लगी।

मैं बोला—"पुष्पा, तब हमारी इतनी पहचान न थी। मुझे यह मालूम न था कि तुमको चिट्ठी न मिलने से दुःख होगा।"

"छोड़ो भी उस बात को।" मैंने देखा कि पुष्पा में अब एक ऐसी सामर्थ्य भी है कि वह हुक्म भी दे सकती है, जो टाला नहीं जा सकता।

"उसके लिए माफ़ी।"

"आप मुझे ज्यादा लाचार न करें।" पुष्पा ने बात काटी और चुपचाप सेब का टुकड़ा दाँतों से दबा लिया।

कि रञ्जन कमरे में आया। पुष्पा उसे देख सहम-सी गयी।

"आख़िर रञ्जन तुम्हारे होटल का पता देखो हमने लगा लिया।" मैं बोला।

रञ्जन चुपचाप पुष्पा को देख रहा था। उसकी आँखें पुष्पा पर लगी थीं।

मैंने रञ्जन को देखा। पुष्पा कहती चली गयी, "आप लोग खावें, मैं अभी-अभी आती हूँ।"

जाती पुष्पा को हमने देखा। रञ्जन अभी खड़ा का खड़ा ही था।

"बैठो, कुछ खा लो।" मैं बोला।

मैं चाह रहा था कि रञ्जन से आज कुछ खुलकर बातें करूँ। जहाँ रञ्जन छुपकर रहता था, वही मैं जान लेना चाहता था।

लेकिन रञ्जन भी हाथ मिला कहता चला गया, "माफ़ करना।"

रञ्जन का यह व्यवहार कोई नया न था। यह उसके साथी सब भुगतकर अब कुछ ख़याल नहीं करते थे। हाँ, आज उसने लापरवाही से कमीज़ और मैली पैण्ट पहनी थी, जो नयी बात थी।

पुष्पा न जाने कब कमरे में आ गयी और बोली—"आपने तो अभी तक कुछ भी नहीं खाया है। पिताजी

लौट आये हैं । अभी-अभी मैंने टीले से देखा है।"

"रज्जन भी उसी समय चला गया, कुछ खाया-पिया नहीं।"

अब पुष्पा बोली—"उसका कुछ काम नहीं । कभी-कभी बड़ी रात तक वायलेन बजाता रहता है । तो फिर सुबह टीले पर बैठकर चट्टानों पर कोयले से 'स्केच' बनाता रहता है । होटल के नौकर परेशान हैं । आधी-आधी रात वायलेन के तार टूट जाने पर या पेन्सिल निबट जाने पर वे बाज़ार दौड़ाये जाते हैं ।"

पुष्पा के पिता आ पहुँचे । बात यहीं पर रुक पड़ी ।

कुछ दिन बाद एक दिन ब्रिज हो रहा था । विनोद, मैं, पुष्पा और उसके पिता खेल रहे थे । आसपास की कुर्सियों पर और होटल के लोग बैठे थे । रज्जन आ पहुँचा ।

विनोद रज्जन को आते देख बोला—"तुम आ गये । भई, हम तो तुम्हारे खेल के क़ायल हैं । अभी-अभी तुम्हारा ही ज़िक्र था । आजकल कहाँ रहते हो ?"

पुष्पा ने रज्जन के लिए पहले ही जगह ख़ाली कर दी थी । वह बाहर चली गयी थी । रज्जन बैठ गया ।

आज रज्जन ख़ूब सावधानी से खेल रहा था, मानो कि अपनी सैद्धान्तिक बात 'ब्रिज फिलासफ़ी' से भिड़ रहा हो । ख़ूब सोचकर एक पत्ते को चलता, फिर भी हार रहा था । उसके चेहरे पर एक नया भाव था, शायद अपनी इस हार से

वह उदासीन था। पहला रबर कोशिश कर भी वह जीता नहीं—और दूसरा भी हार रहा था। कुछ खिन्न व भारी थका वह लगा।

खेल पर मन न लगने से मैं 'कार्ड' अपने साथी को सौंप चुपचाप बाहर निकल आया।

सीढ़ियों को पार करता पुष्पा के कमरे के दरवाज़े पर रुक पड़ा। दरवाज़ा अधढका था। अन्दर अन्धकार था। दरवाज़ा खोल पुकारा, "पुष्पा !"

और फिर भीतर जाकर स्विच दबाया।

देखा पुष्पा सोफ़े पर हाथ के सहारे सिर धरे, लेटी सो रही थी।

पास जाकर पुष्पा को देखा—वह चुपचाप सोयी थी। इधर-उधर काग़ज़ फटे पड़े थे। पुष्पा की पलकें कुछ भीगी थीं। साथ ही उसके चेहरे से लगता था कि वह ख़ूब रोयी है। पुष्पा को ! बात का कहीं कूल-किनारा नहीं मिला। पुष्पा, पुष्पा की आँखें, विद्युत् के प्रकाश में फैले काले-काले गुच्छों में उलझे बाल ! पुष्पा का एक अपार सौन्दर्य सन्मुख बिखरा था। वही पुष्पा, जिसे बार-बार पुकारने की चाहना को दिल में मसोसकर समा रहा था। एक संभव बात का निपटारा उससे चाहता था।

पुष्पा की बायें हाथ की उँगलियों में एक काग़ज़ था। उसे सावधानी से निकालकर देखा। एक 'स्केच'। 'स्केच' : पुष्पा

बकरी के बच्चे का कान पकड़े थी। और बच्चा छुटकारा चाहता था। अपनी कोशिश की असफलता से इधर-उधर देख रहा था।

और पुष्पा उसकी स्वतन्त्रता को क्यों छीने ले रही थी ?

आँखें पुष्पा पर अटकीं—सोयी पुष्पा और बकरेवाली पुष्पा। दोनों के बीच एक भारी खाई लगती थी। वही उसकी 'भावना' थी।

स्केचवाली पुष्पा का वह खेल ? कागज़ पर काला 'बैक ग्राउण्ड', सँवारी उस पर सुफ़ेद 'चौक' की लकीरें, स्वतन्त्रता, मुक्ति और बन्धन की व्याख्या में छुटकारे की सूझ में दुबके थे। यह कैसा खेल चित्रकार ने अपनी भूख का साधन बनाया ? यह कैसा अभाव था ?

और सोयी पुष्पा ?

पुष्पा को सोये देख एक अज्ञात गुदगुदी होने लगी। हृदय सोयी पुष्पा से सब कुछ कह सकता था और जगी से ?

फिर भी बोलना पड़ा—"पुष्पा !"

पुष्पा जगी नहीं। पुष्पा, 'स्केच', बकरी का बच्चा, चित्रकार और मैं।

मैं बाहर आया।

नीचे 'हाल' से रज्जन का हँसना साफ़ सुनाई पड़ रहा था।

मैं फिर कमरे में गया। पुष्पा अब भी सोयी थी। फिर पुकारा—"पुष्पा !"

पुष्पा की आँखें खुलीं। वह उठी और आँखें मलते-मलते बोली, "तुम कब आये।"

"अभी-अभी। तुम तो बेवक़्त सो गयीं।"

पुष्पा ने जम्हाई लेते कहा, "तबीयत ठीक नहीं है।"

फिर ज़रा देर बाद 'स्केच' उठाकर बोली--"यह आपके दोस्त ने बनाया है। आज सुबह बाहर गेलरी में मिले थे। कहा था, "मैं एक आज्ञा माँगता हूँ। आप अपना एक 'स्केच' मुझे खींचने देंगी...."

फिर पुष्पा चुप हो गयी।

"तुम तो अब जा रही हो पुष्पा।" मैं बोला।

पुष्पा कुछ नहीं बोली।

"अब के ज़रूर तू चिट्ठी भेजना।"

"तुम भी तो दशहरे में आओगे न?" पुष्पा ने आँखें ऊपर उठाकर कहा।

"हाँ।"

कि रञ्जन ने कमरे में पाँव रखा और सुनाया—"विनोद आपका इन्तज़ार कर रहा है।"

मैंने पुष्पा को देखा : वह चुपचाप खड़ी थी।

अगले दिन सुबह आने का वादा कर मैं बाहर निकला। राह में विनोद ने सुनाया कि रञ्जन एक भी 'गेम' नहीं जीता, और आज वह पहले-पहल खेल से खीजकर उठा। वह बहुत घबराया था। और खेल बन्द होने के बाद तपाक

से बोला—'यह ज़िन्दगी की आख़िरी हार है।' रञ्जन का आज का खेल उसकी लापरवाही और आत्मविश्वास का झगड़ा था। एक-एक 'गेम' के बाद वह कार्ड काटता कहता था—हमेशा की जीत का यही नतीजा होगा, कभी नहीं सोचा था।

विनोद ने और सुनाया कि रञ्जन को वह ख़ूब समझ गया है। बहुत कुछ अनुरोध करने पर भी वह साफ़ टाल गया।

—अगली सुबह पुष्पा के पास पहुँचा। देखा कि पुष्पा अकेली बैठी है! उसके पिता घूमने चले गये थे।

कमरे में क़दम रखते ही वह मुझसे लिपटी, बोली—"जब तक मैं यहाँ हूँ, मुझे अकेले न छोड़ा करो। मेरा दिल नहीं लगता है।"

पुष्पा कुछ पीली पड़ गयी थी। पुष्पा की आँखों में कुछ बूँद आँसू जमा थे।

पुष्पा का यह व्यवहार नया लगा, वह बच्ची नहीं थी। वह युवती थी, जहाँ लाज और शीलता दबाती है।

पुष्पा बोली—"मेरा तुम पर हक़ है। इसी से कहती हूँ और किसके आगे हाथ पसारती ?"

"यह न कहो पुष्पा।"

और पुष्पा छिटककर हट बोली—"चाय मँगवाऊँ ?"

"क्या मेरी पुष्पा पिलावेगी !"

पुष्पा हँस दी।

चाय आयी। दोनों चाय पीने लगे।

कि रज्जन कमरे में आया और आते ही बोला—"वाह तुम आ गये। मुझे कुछ ख़बर ही नहीं।"

पुष्पा ने रज्जन को देखा, उठना चाहती थी कि चाय की प्याली लुढ़की और चाय साड़ी पर बिखर गयी।

रज्जन ने पुष्पा का हाल देखा और हँसता बोला—"मेरा आना बुरा हुआ, बेकार आपकी साड़ी ख़राब हो गयी। यही तो यादगार है।"

फिर मुझसे बोला—"हमारी तुम्हारी दोस्ती काफ़ी है। मेरे खातिर इनको नयी साड़ी दे देना। मैं ख़ुद हर्जाना देता, पर फ़िलहाल जेब ख़ाली है।" और हँसता-हँसता बाहर चला गया।

रज्जन आज बिलकुल लापरवाही से आया और चला गया। बाल बिखरे थे, आँखें लाल थीं।

अगली सुबह पुष्पा ने जगाया—"उठो !"

"क्या है पुष्पा ?"

पुष्पा बिलकुल डरी थी, सुफ़ेद पड़ी थी। चेहरे से एक ज्ञेय भय टपक रहा था....

"रज्जन ने आत्महत्या कर ली !"

"आत्महत्या !" मैं चौंकता बोला।

"हाँ, धोती का एक छोर खूँटी से बाँध, दूसरा गले से बाँध, झूल-झूलकर मर गया।"

"झूल-झूलकर।" मैं अवाक् रह गया।

"यह चिट वह कल साँझ को दे गया था।" पुष्पा ने एक कागज़ का टुकड़ा दिया।

मैंने पढ़ा, लिखा था : तुम मेरी मौत चाहती हो न पुष्पा।

मैं दौड़ा-दौड़ा विनोद के पास पहुँचा। उसे सब कुछ सुनाया। उसे कुछ आश्चर्य नहीं हुआ, जैसे कि वह यह सब सुनने को तैयार हो।

फिर वह बोला, "बेचारे ने ज़िन्दगी का आखिरी 'ब्रिज' खूब मन लगाकर खेला।"

मैं विनोद को देखता ही रह गया, कुछ भी नहीं समझा।

विनोद कुछ रुककर बोला—"यही उसने 'आखिरी स्केच' में देखा था।"

"आखिरी स्केच में !" मैंने विनोद की आँखों में अपनी आँखें गड़ा दीं !

भद्दी दुनिया !

पवित्र-लोभ, जीवन में रुकावट कभी-कभी डालता है। सकारण तभी कौन उसे बिसार सका। दुनिया के भीतर खप जाना ही आदमी की आखिरी चाहना होती, व्यक्तित्व और दरजे का सवाल नहीं उठता। यही बात है कि नवीन आँखें फाड़-फाड़ अपने चारों ओर देखता है। जीर्ण समाज है, कुछ रूढ़ियों से प्रचलित धारणाएँ हैं और धर्म की आड़ लिये कुछ क़ायदे। सहूलियत कहीं भी चलने में नहीं। ज़माना बदल रहा है। व्यक्ति की बुद्धि पैनी होती जा रही है। न सरपट भागकर जाते, बात-बान की विवेचना करने का चलन बाक़ी है। सब लोग स्थिर हैं। हरएक की बात सुनकर भी, अपनी निजी राय कोई नहीं देता है। सन्देह हर व्यक्ति के दिल में फोड़े की तरह पक चुका। कब न जाने फूटकर, मैले मवाद की तह से उस सभ्यता को ढक लेगा—इस ओर से सावधान कोई नहीं। अपनी आकांक्षा

को सब पकड़े हैं। अपने अपनत्व को बिसारनेवाला तक़ाज़ा कोई भूलना नहीं चाहता है। छोटी-छोटी झोपड़ियाँ हैं, कच्चे मकान—महल, गली हैं, कङ्कड़ कुटे रास्ते, कोलतार से पुती सड़कें। कुनबे हैं, मुहल्ले और शहर का अपना अस्तित्व है। ग़रीब हैं, मध्यश्रेणीवाले और बुर्ज़ुआ-ख़ानदान। रोज़ का कारोबार भी बड़ी-बड़ी दूकानों से चलता है। फेरीवाले मुहल्लों में रहनेवाले अपने ग्राहकों को ख़ुद ही सौदा दे आते हैं। कुछ लोगों का बैंक में रुपया जमा है, कुछ का उधार पर जीवन-निर्वाह रहता है। और बाकी हैं, उनके पास पैसा नहीं—वे नंगे कहलाते हैं। फिर भी सबका अपना दायरा, समाज, आदर और तर्क है।

और यह धर्मशाला भी है—गङ्गा के किनारे। न जाने कब बनी होगी। वहीं नवीन की बुआ माघ-स्नान करने आई है। वह वहाँ जाता है। यात्रियों को देखता है। लोगों की बातें सुनता है। पास छोटी-रेल की लाइन है। उसी पर से कभी कोई सवारी गाड़ी, तो फिर मालगाड़ी गुज़रा करती हैं। पास ही गङ्गा के ऊपर, एक बड़ा पुल है, जो लोहे के बड़े-बड़े मज़बूत खम्भों से स्थापित है। उसे गहरे सिन्दूरी रङ्ग से रँगा गया है कि दूर से ही दीख पड़े। खटर-खटर गाड़ियाँ उस पर चलती हैं। वह भारी आवाज़ अनायास मैली-कुचैली धर्मशाला के कोने-कोने से प्रतिध्वनित होगी। न जाने क्यों दिल में भारी एक कठोर

आवाज़, हथौड़े की चोट की तरह, खट-खट-खट बेधने की चेष्टा करती है। कभी तो उससे भय होता है। वह अधिक न जाने क्यों नहीं ठहरता। वैसे वह कभी तो जीवन को उखाड़ने का साधन-सा बन जाता है। तभी कोई छुपी पीड़ा उभर आती है। वह फिर भी है व्यर्थ ! उसकी अपनी भावुकता है। दुःख तो है एक बल, जो थके और हारे व्यक्ति को टिकने में मदद दिया करता है।

धर्मशाला में मैली-कुचैली कोठरियाँ हैं। वहाँ यात्रियों को दो-चार दिनों का आश्रय मिल जाता है। निचली मंज़िल के बाहर दालान में, मिट्टी के बने चूल्हों पर आग सुलगायी जाती है। वहीं मिट्टी की हँडिया चढ़ाकर, खाना प्राप्त होता है। भूखा कोई रहना नहीं चाहता। भूख कोई विश्राम थोड़े ही है कि साध्य हो। उन टूटी मिट्टी की हंडियों को बाहर चौक में पाकर, कुत्तों का दल उन पर टूटा करता है। या फिर काँव-काँव-काँव, कोई कव्वा चिल्लाकर, अपनी पक्षी जाति की उदारतापूर्ण चतुरता का परिचय देता हुआ मिलेगा। और यदि कुछ बात महज़ ज़रूरी हुई, मेहतरानी पान चबाती, पत्तों में जूठा अन्न बटोरकर ले जाती है। अपने हक़ों के प्रति उदासीन रहने-वाले लोगों की ओर तीव्र इशारा कर, उनको दुतकारती है। या उसका बच्चा दूध पीता होगा। वह अधेड़ है। बच्चा माँ के स्तनों को चूसता—चूसता रहता है। वह

छुपाकर दूध पिलाने को, ओट नहीं ढूँढ़ती है। लाज इसके लिए नहीं बरतती। ऐसी कोई आज्ञा जैसे कि उस छोटी जाति के लोगों के बीच प्रचलित नहीं है। न व्यक्ति के साथवाली झिझक का बरताव उनको सीखना पड़ता है। और धर्मशाला का गुमाश्ता उसे छेड़ता—कोई मज़ाक़ करता है, तो पुट मुस्करा देती है। इस अधिकार की विमुखता का ध्यान जब आता है, वह एकबारगी, 'धुत' कह, उसके सारे उत्साह को मुरझाने में भी प्रवीण है।

उसके चौड़े दरवाज़े से बाहर एक सँकरी सड़क है। उसके दोनों ओर छोटी-छोटी दूकानें हैं। बिलकुल सामने एक व्यापारी अपनी बूढ़ी पत्नी के साथ परचून व और खाने-पीने का सामान रखता है। सस्ती बाज़ारू चीज़ें भले ही बेचें, महँगे दाम वसूल करना उनका रोज़ाना रोज़गार है। वह बूढ़ा पैसा हाथ में लेता है। चाँदी के सिक्कों को परखने के लिए अपनी बीबी को दे दिया करता है। जितना ही वह कृष्णकाय है, पत्नी की तोंद उतनी ही बाहर निकली हुई है। पास ही तरकारी की दूकान है। उस पर एक काली कलूटी औरत बैठती है। वह बहुत कुरूप है। सारा चेहरा चेचक के दाग़ों के साथ, छलनी-सा लगता है। लेकिन सौदा देने में वह रूप के ख़िलाफ़ उदार अधिक है। बुढ़िया जितना ही हाथ खींचती है, वह उतनी ही लापरवाही बरतती मिलेगी।

इसके बाद एक मुरमुरे और भुने चनों की दूकान है । उसमें सुतली से एक ओर दीवाल पर मिट्टी की चिलमें, खूँटी से टँगी हैं । पास ही काबुली चनों के टोकरे से लगा तम्बाकू का पिण्डा भी रखा हुआ है । एक ओर छोटा-मोटा बिसातखाना व पूजा की सामग्री धरी है । उसका सारा भार एक छोटा लड़का निभा लिया करता है ।

तब भी नवीन अकृत्रिम का आदी नहीं । वह चाहता है, दुनिया धुलकर स्वच्छ हो जाय । कहीं कोई भेद बाक़ी भला क्यों रहे । लौकिकता को अहसान की तरह पड़ा रहने देना वह चाहता है । बुआ है । उसके साथ और भी औरतें रहती हैं । वह चुपचाप बुआ की आज्ञा का पालन करेगा । सौदा-सुलफे का इन्तज़ाम देखता है । इस सबके बाद कभी-कभी वह डर बहुत न जाने क्यों जाता है । उसके आगे एक हिचक रहती है । वह सारे जीवन-व्यापार को क्यों अड़चन-ही-अड़चन समझ बैठा है ? वह व्यवसाय जीवन को बनाने पर उतारू नहीं होगा । अपने आगे उन्मुख कर्तव्य की लालसा भी कोई उसे कब रही ।

दुःखी होकर वह यों ही ऊपर छत पर चढ़ जावेगा । वहीं मुंडेरी पर बैठा-बैठा देखेगा : गङ्गा की तरेटी पर नज़र पड़ती है । रेत के ऊपर धब्बे-से कुछ निशान दीखते हैं । वह ताकता-ताकता रह जाता है । उस पार गङ्गा के फ़सलें

खड़ी हैं—अरहर, पीले सरसों के खिले फूल। उस सबके बाद भी तृष्णा नहीं मिटती। कुछ अज्ञेय वह पाना चाहता है, जिसे खुद नहीं जानता। इस सबके बाद वह बेचैन हो उठता है। खड़ा हो जावेगा। नीचे वही धर्मशाला की कोठरियाँ हैं। वह तिमञ्जिले पर खड़ा है। पानी के नल के पास औरतें खड़ी पानी भरती हैं। और, और!

बुआ ने कहा था एक दिन, "पहचानता है इसे। उस रमेश की बहू है। अपनी सास के साथ, चली आयी नहाने।"

वह सास भी सरलता से बोली—"मोहन की चाची हूँ मैं।" फिर भी उस रमेश को वह आगे नहीं लाती है। वह दुनिया से कभी विलीन हो चुका है। इसी से उस स्मृति को सन्मुख ला, गोदी पर लगे गहरे घाव की पपड़ी हटाने को तैयार वह नहीं लगती है। खोई वस्तु का भरोसा ही कौन करता है! मौत के बाद नाम की रेखा के अलावा कुछ ख़ास बाक़ी बचता भी नहीं है।

रमेश की बहू ने एक बार आँखें ऊपर उठायीं। देखा था नवीन ने कि वे आँखें आँसुओं से तलबल भरी थीं। एकाएक आँचल में मुँह तभी छुप गया था।

उसकी ओर अधिक वह क्या देखता। वह तो अनमनी-सी, चुपचाप भीतर चली गयी। जैसे कोई भूला विद्रोह, भूचाल की तरह जाग उठा हो। और नवीन

हतबुद्धि बुआ से न जाने क्या-क्या बातें करता रह गया।

नारी की कितनी ही आकृतियाँ नवीन ने गढ़ीं। वह सही एक ढाँचा बनाना चाहता था। अनजाने अछूता उसका शरीर भी छू लेता, तो एक झेंप हिचक और भय के कारण उसे मिटा डालना चाहता। वह विचार करता-करता, अटूट उस सारे रिश्ते को एक बार पढ़ लेने के अनुग्रह में था। उस टुकड़े-टुकड़े, बिखरे-बिखरे जीवन को समूचा बटोर कर, पहचान लेना चाहता कि क्या और कैसा था वह ? वह भीतर मन में न जाने क्या-क्या झगड़ा अपने से ही करता है। बार-बार उस झगड़े को एक ठठोली के समान उड़ेल, पुकारकर कहना चाहता है—ओ, भाभी !

कहती न थीं, बुआ ही—भाभी है यह तेरी।

आसानी से उसे कुछ भी प्राप्त नहीं। भारी जीवट-मजाक जैसे कि यह सब होगा। वह सुनहली दुनिया भले ही उसके लिए अकाट्य हो, उस युवती भाभी के लिए नहीं !

वह युवती, चुपचाप सास की आड़ में रहती है। अधिक किसी से बातें नहीं करती। असावधानी से यदि नवीन के आगे पड़ती है, उसकी झुँझलाहट वह खूब महसूस कर लेता है। वह तो फिर सतर्क हो, जैसा मन में

वादा करती हो—आगे वह उच्छृङ्खल नहीं रहेगी। यह ठीक नहीं, ठीक नहीं है! और नवीन के पास से भी भागी-भागी फिरती है।

कोई और भाभी होती, नवीन चाहता उसको पकड़ बेड़ियाँ पहना लेना। यह वह अब भूल गया है। इस भाभी के लिए ज़रा भी कुतूहल मन में जमा नहीं होता है। इस साधारण पहचान के बाद, वह नारी भी उससे उलझने को कोई ख़ास उत्साहित भी नहीं है। इसे नवीन उपेक्षा गिने, चाहे कुछ और—इनकार कौन करता है!

इस भाभी की कई झलकें उसने पाई हैं। वह है चिट्टी गोरी। तो भी चेहरे को साँवली, उदासी-उदासी घेरे रहती है। एक बार जब वह मुँह धो रही थी, अपनी आँखों में नवीन ने, भाभी के कमर तक फैले बालों की छवि भर ली थी। लेकिन वह सब सुन्दर नहीं लगा। धुला यह चेहरा रोज़ की तरह ही मलिन था। उसमें रूप है, रङ्ग है; किन्तु ख़ास अपना कोई भी जीवन नहीं। नारी का लुभावना भाव भी हृदय में उदित नहीं हुआ। हड्डियों और कुछ मांस की बनी ही वह लगी। दो आँखें, कान, नाक और मुँह जैसे कि उसमें हों हीं न। गति उसमें नहीं है। कहीं ठीक आहट नहीं। आवाज़ नहीं। बोलेगी—चुपके-चुपके; जैसे कि चुहिया आधी अँधेरी रात्रि को, कमरे में आ रोटी या कोई अन्न पा, उसे

कुतरती-कुतरती करती है—चूँ, चूँ, चूँ ! स्पष्ट वह भाषा कब होती है !

एक बार वह बहुत नज़दीक पहुँचा था। समीप से देखा। अवाक्, स्तब्ध कुछ क्षण खड़ा रह, तेज़ी से भाग आया था फिर। उस भाभी की आँखों से बड़ी-बड़ी बूँदें ढुलक रही थीं। कोई भारी चोट जैसे कि खा, आहत हो, यही था उसका अन्तिम एक सहारा !

लालच कोई नवीन के जीवन में भरता जा रहा है। वह 'कोई' जैसे कि उसे टटोलने की क्षमता रखता है। एक और परिवार भी वहीं टिका हुआ है। पति है, पत्नी और एक रिश्ते की बूढ़ी औरत। पत्नी युवती है। उसकी झँवरियाँ चलते-चलते—छम्म ! छम्म !!—बज उठती हैं। एक विछोह नवीन के हृदय में उठता है। उस युवती की ओर अकारण न जाने क्यों आँखें फैल जाती हैं।

वह युवती हँसती मिलती है। उसमें चञ्चलता है, चापल्य है। गिलहरी की तरह वह मौज से इधर-उधर व्यस्त फिरा करती है। कभी झाड़ू देगी, तो रङ्गीन धोती का फेंटा कमर में पहले बाँध लेती है। उसे पुरुष से ऐसे लाज भी नहीं। पति से मुसकरा-मुसकराकर बातें करती रहेगी। तब अन्दाज़ लगता है कि नारी का छल ही उसका देय बल है। नहीं वह अपनी कमज़ोरियों से कभी भी कहीं-कहीं चटक जाती।

सुन चुका है नवीन। बुआ ने सुनाया था। वह दूसरी पत्नी है। पति है भी अधेड़। सिर के बाल, काले-सफेद, खिचड़ी की तरह लगते हैं। जीवन से वह बिलकुल निरुत्साहित लगता है। वह लड़की बार-बार जीवन उड़ेलती है—समर्पित कर देती है, समूची अपने को! उस नारीत्व को झरोखे से देख, उद्वेलित हो उठता है नवीन का भीतरी पुरुष! उसकी भाभी की जीवन-छाया में जैसे कि जाली-वाले प्रकाश की तरह काले-सुफेद बुन्दे हों—धुँधला लगता है वह नारीत्व। और वह युवती जो पत्नी है, उसका रूप मोहक है, लोभीला—सफ़ेद काग़ज़ पर बने काले नारी-रेखा-चित्र की तरह। जो शारीरिक नग्नता के बाद, केवल काला-काला, रङ्ग से पुता-भर मिलता है। वह काला होता है कोयले की तरह। फिर भी उसमें हीरे की तरह चमकीली अनुभूति मिली रहती है।

एक वैज्ञानिक की तरह नवीन भी खोज कर रहा है। अन्यथा कोयले और हीरे का मुकाबला क्यों करता! हीरा और कोयला, वास्तव में बना एक ही तत्त्व का है, भले ही अलग-अलग उसके रूप हों। थोड़ा अन्तर है—जब कि एक चमकता है, दूसरा है भद्दा! अलग-अलग वह कैसे रखे जायँ। यह धर्मशाला भी लाल चिट्टी ईंटों की बनी है। कहीं-कहीं ईंटें, छूते ही, बुर-बुर-बुर, मिट्टी बनकर फर्श पर बिखर जाती हैं। हाथ की उँगलियाँ जैसे सबल हों और

ईंटें निर्बल ! तब धोखा-धोखा उसे अपने से होता है। कहीं-कहीं दो ईंटों के बीच की चिपटी सीमेन्ट की सतह उखड़ गयी है। नङ्गा वह स्थल भला नहीं लगता है। कहीं दीवाल के कोने पर, छत से लगाकर, मकड़ी ने ताना-बाना फैलाया है। उस जाले के आसपास एक दो हरी छिपकलियाँ दीवाल से अचल, चिपटी रहती हैं। जाले में कहीं-कहीं काली-काली बूँदों की तरह, मक्खियाँ झूलती हैं। वहीं छै टाँगोंवाली मकड़ी अपनी अगली दो टांगों से कभी-कभी जाला बुनती है। उन मुर्दा बनी झूलती हुई मक्खियों के प्रति उत्साह उसका कोई नहीं है। और यदि कोई अनजान व्यक्ति कभी चूल्हा उस जाले के नीचे लगा, आग सुलगाता है, चट वह पास की दूसरी दीवाल की ओर भाग जाती है। उस मकड़ी को देखकर कब भारी छी-छी नवीन के मन में नहीं भरती गयी। पर है वह लाचार !

ज़रा रात पड़ते ही कभी चमगादड़ भी उस धर्मशाला की कोठरियों का चक्कर काट, आतिथ्य-सत्कार कर लिया करते हैं। उनको कोई बन्धन नहीं है। आदमी से निडर हैं। फट-फट-फट कर उड़ेंगे और कहीं ठीक से लटकने की जगह न पा भाग जावेंगे। खेतों के ऊपर तिरछे उड़ते-उड़ते अपना चारा ढूँढ़ना स्वीकार कर लेते हैं। दुनिया में नष्ट होने के साधन भी स्वयं इसी तरह विद्यमान हैं। आधार

पशुता और शक्ति ही है। जो निर्माण भी है और विध्वंस भी ! नवीन तुलना जब करता है, तो मनुष्य की सभ्यता पशुओं से भी अस्वस्थ और गयी-बीती लगती है। यहाँ का स्वार्थ थोथा है—अपने से बाहर भी, अपने-परायों का दायरा है। पशु-पक्षियों में यह सब स्वार्थ लागू नहीं मिलता !

तो नारी के छल को अवलम्बन-सा वह क्यों समझता है। उस पत्नी में जितनी बुलाहट है, आश्रय है; भाभी में उतनी ही उपेक्षा और सावधानी। क्यों वह दोनों के बीच एक हृदयहीन दीवाल की तरह खड़ा हो, उनको तोल लेना चाहता है। वह युवती अक्सर टुकुर-टुकुर उसे छुप-छुपकर देखा करती है, भाभी नहीं। भाभी जैसे अनिश्चिन्त हो, वह पत्नी निश्चिन्त ! दोनों के दिमाग का विकास एक-सा नहीं लगता। दोनों भिन्न हैं—अपनी-अपनी तरह दोनों में अपने-अपने दायरे की रुकावटें हैं। दोनों की उलझनों की मीमांसा करता, कभी तो वह बहुत उलझ जाता है। अनर्थ जैसे कि उसका मानव-स्वरूप हो। नहीं वह भी होता पशु-पक्षी की तरह ! कहाँ अन्तर है ?

वह पति एक दिन नवीन के पास आया, बोला, "कोई अच्छा सिनेमा आया है शहर में ?"

नवीन छत पर बुआ के साथ बैठा धूप सेंक रहा था। जनवरी का महीना। कहीं पास गाँवों में ओले पड़े थे। शीत,

हड्डी के भीतर पैठ, कँपकँपी भी पैदा करती। उस दुपहरी की धूप बहुत प्यारी लग रही थी।

कहा नवीन ने, "पूछ आऊँगा, क्या आप जावेंगे ?"

"नहीं, वह कई दिन से लगी है। एक दिन दिखा लाऊँ। हमेशा कहाँ ऐसा मौका मिलता है।"

वह एक अनुरोध था तब। नवीन के दिल में गुदगुदी उठी। अपनी भीतरी कठोरता को उसने पिघलते पाया। जबाव दे दिया, "पूछ आऊँगा मैं।"

नवीन पूछने जावेगा, कौन-सा सिनेमा है। क्या मतलब है उसका ! वह सिनेमा उसकी ज़रूरत थोड़े ही है। जावे कोई, उसका क्या है ?

तभी बुआ ने पूछ डाला, "कोई अच्छा नाई मिलेगा ?"

"नाई !"

"रमेश की बहू पिण्ड देगी।"

"पिण्ड !" नवीन ने बुआ की ओर देखकर दुहराया।

"फूटा भाग्य है उसका।"

एक भारी चोट जैसे कि किसी ने नवीन के मारी। स्तम्भित रह गया वह। यह नारी क्यों इस तरह आदमी की पूजा करती है। यह कैसा अन्याय है पुरुष का ! पत्थर की पूजा आदिकाल से चली आयी है। बहाना भले ही हो वह। यह व्यक्ति की पूजा का सवाल कैसा आदर है। अपने में कितना ही उसने विचार किया, निर्णय कुछ भी

नहीं कर पाया। नतीजा पाया, इस व्यवस्था के मुताबिक सर्वदा आदमी की पूजा नारी को करनी पड़ेगी। अन्याय है यह। एक ग़लती भी। वह उस पर विश्वास नहीं करता है। नाई आया ही फिर। नवीन हट गया था वहाँ से। आगे देखा था उसने—उन काले-काले बालों को गङ्गा में बहा दिया गया। उस धर्म की व्याख्या अधिक वह नहीं कर सका था।

पीड़ा थी दिल में। पैडिल मारता-मारता वह सिनेमा पहुँचा। 'हैण्डबिल' ले आया। लाकर उस अधेड़ को दे दिया। वे सन्ध्या को सिनेमा चले गये। वह चुपचाप छत पर बैठा देखता रहा—सूर्य डूब रहा था। मन खाली हो आया। बार-बार, उमड़-उमड़ पड़ता था वह, कि कब न जाने छलक जावे।

तभी देखा, वह मोहन की चाची आयी थी। आकर बोली, "जा रहे हैं हम।"

"कहाँ ?" नवीन उलझन में बोला।

"गयाजी।"

"वहाँ !"

"यात्रा पूरी करनी है। अबके तुझे देख लिया—धन्य भाग। अपने शरीर की हिफ़ाजत किया कर।"

नवीन चुप रहा—चुप। स्वास्थ्य की यह सीख एक प्रतीक-सा, वह बुढ़िया समझ बैठी है। लड़के की मौत

के बाद हरएक लड़के से यही कहने को बाक़ी बचा है।

उसने उसे प्रणाम किया। वहीं बैठा रहा। वह चली गयी थी। एक बार नीचे झाँका—वह भाभी भी खड़ी थी। उसकी बड़ी-बड़ी आँखें उसी तरह पायीं—वह डबडबायी थीं। आँसुओं से भरी रहीं!

वह चिल्लाकर कहना चाहता था—तुम क्यों रोती हो इस तरह!

लेकिन रहा चुप। वह लोग चले गये थे। नवीन लुटा-सा क्षितिज की ओर देखता—देखता रह गया............!

असमञ्जस में वह दुनिया को टटोल रहा था........।

कुसुम की बात

"मैं अब बचूँगी नहीं।"

"कुसुम।"

"चाहे देख लेना। सच ही कह रही हूँ।"

फिर भी मैं चुप रहा।

कुसुम कह रही थी, "तुम जा रहे हो। यूनीवर्सिटी में एक दिन की देरी हो जावेगी। यही बहाना है। कुछ दिन रुक क्यों नहीं जाते। जब जाने को तैयार हो गए, तब सिर्फ़ पूछने ही आए हो। कल तो सुनाया भी नहीं था। अब मुख-मुलाहजा करने से क्या होता है।"

कुसुम का गद्गद स्वर। आँखों में आँसू छलछला रहे थे। कुसुम रो रही थी। जो सोचा था वही हुआ, कुसुम अकेली मिली। कुसुम के सवाल का उत्तर क्या था ?

वह शायद न जानती थी कि मैं किन परिस्थितियों में हूँ। घर पर भाभी खाट पकड़े हुए थी। अच्छे होने की नहीं और यहाँ कुसुम !

उस हिल-स्टेशन को छोड़ने से पहले, कुसुम से मिलने आया था। जाने से पहिले कुसुम से मिलने का साहस नहीं हुआ। उसके आँसुओं के आगे मैं पिघल जाता था। भाभी की लम्बी बीमारी ने दिल इतना कमज़ोर बना दिया था कि जिस दिन कुसुम के पिता अपनी रोगिणी बेटी को, पड़ोस के बँगले में ले आए, मैं डर गया। एक पड़ोसी के नाते जब कुसुम से परिचय हुआ, उस दिन उसका रोग असाध्य नहीं था। सुस्त रहती, उदास लगती, मलिन हँसी हँसती और उसके चेहरे पर वेदना की स्पष्ट छाप थी। उसमें अपना ही एक सौन्दर्य और आकर्षण था। वह एक भावुक गीत की तरह कोमल थी। मुझे वह एक घायल कबूतर की तरह लगी, जिसके लिए दिल के ख़ाली कोने में एक घोसला सौंपने को मन व्याकुल हो जाता है। वह तो मूकता से सुझाती लगी—यहीं अब रहूँगी मैं। मुझे स्थान देना। तुम्हारे ही समीप रहूँगी। यदि दुःख की पीड़ा से छटपटाऊँ, तो तुम हाथ बँटाना। वेदना से तड़पूँ, तुम उसे बाँट लेना। जब उदास रहा करूँ, तुम मेरा जी बहलाना। बस, मैं अच्छी हो जाऊँगी। देखो न, तुम क्या नहीं देख रहे हो। यहाँ आकर अब बैठ लेती हूँ।

चल-फिर सकती हूँ। अब जल्दी ही चंगी हो जाऊँगी। फिर....

उसी कुसुम से उस हिल-स्टेशन को छोड़ने से पहले मिलने का साहस नहीं हुआ। उसके भोले उदास चेहरे को एक बार पढ़ लेनेवाला बल मुझमें नहीं था। और उसे जाती बेर यह समझाने की बात न कह सका—कुसू दशहरे की छुट्टियों में आऊँगा मैं—ज़रूर आऊँगा। तब तुम अच्छी हो जाओगी। हाँ, वह कृष्ण-पनिहारिन का पत्थर का 'मॉडल', जिसका ज़िक्र मैंने तुमसे किया था। जिसे बनाने में चतुर शिल्पी ने पूरा एक साल व्यतीत किया। वह अब व्यापारिक दुनिया में सस्ते मूल्य पर बिकने लग गया है। वह फ़ोटो का अलबम और किताबें भी लाऊँगा। नहीं, जाते ही पारसल से भेज दूँगा। चिट्ठी लिखना तू।

लेकिन हृदय में रोगिणी भाभी ने नासूर बना दी थी। मैं देखता रहा कि भाभी मेरे 'हॉलडॉल' को बँधते देखकर पीड़ित थी। वह नहीं चाहती थी कि इतनी जल्दी मैं उसके पास से हटकर, दूर देश चला जाऊँ। वह मेरी सहानुभूति और सहारे की भूखी थी। वह मेरे अति समीप की पहचान थी। स्वामी के बाद वह मुझे खूब प्यार करती। और हमारे घर में प्रवेश करते ही, उसने मुझसे बराबरी का नाता जोड़ लिया था। हम लोगों के बीच अक्सर झगड़ा भी होता। वह झूठा निकलता। हम

लोगों की दुनिया एक सुख और आनन्द की दुनिया थी। भाभी जब रूठती तो मैं मनाता, वह भी इसका बदला लेने में प्रवीण थी। आज मैं उसके समीप से भी दूर—अति दूर चला जा रहा था। पहाड़ों से दूर—बनारस। तीन महीने की छुट्टियाँ तो देखते-देखते ही व्यतीत हो गई थीं।

'हॉलडॉल' बँध गया। सूटकेस भी ठीक कर लिया। नौकर ने सामान उठाया। मैं भाभी के चरणों में सिर रखकर, बिदा लेने लगा। भाभी तो रो रही थी। वह कुछ कहना चाहती थी। कुछ बोलना चाहती थी। कहे कैसे! हृदय में एक झगड़ा था, कलह था, दुःख था और वेदना की भारी सुलगी आग की पीड़ा थी। वह आँसू बहा रही थी। स्थिर थी वह—आँसुओं के अलावा वे आँसू ही जैसे कि उसके जीवन रहे हों। मेरा हृदय भी एक यंत्र की तरह धुक-धुक कर रहा था। भाभी मूक थी।

मैंने सिर उठा लिया। भाभी अवाक् रह गई। अपने भीतर मैं भी रो रहा था। भाभी के उभरे आँसू मन को बेकल बना रहे थे। मेरी पलकें अब भीज गईं। एक बड़ी कमज़ोरी मैंने महसूस की। आँसुओं की बाढ़ फूट निकलना ही चाहती थी। मैं सावधान हो बोला, "अब मैं जाऊँ भाभी।"

भाभी अवाक् पड़ी की पड़ी रही—जड़वत्। कुछ

सँभल धोती के छोर से आँसू पोंछती निरर्थक उठने की चेष्टा करने लगी। मैं टोकते हुए बोला, "तुम लेटी रहो। डॉक्टर ने मना किया है।"

आख़िर भाभी बोली ही, "एक-दो दिन रुक नहीं सकता है। तेरे बिना मेरा दिल कैसे बहलेगा ?"

भाभी की यह कितनी सरल बात थी। ये आँसू, यह अनुरोध रोज़ की बात होगी। ये सुकुमार भावनाएँ कब तक जीवन में चलेंगी। आज न सही कल तो जाना ही होगा। उतना भावुक वातावरण मेरे मन को निर्बल बना रहा था। मैं सँभलकर बोला—"यूनीवर्सिटी खुले हफ़्ता भर हो चुका है।"

"हफ़्ता !" भाभी चौंक उठी। जैसे कि इस बात ने पैना डंक उस पर मारा हो।

"हाँ भाभी, जाना चाहता हूँ, तो दिल विद्रोह करता है। मैं क्या करूँ।"

"अच्छा तो जा। ख़ूब पढ़ना। चिट्ठी जाते ही भेज देना। मेरी फ़िक्र न करना। भाग्य में जो भोगना लिखा है, वह तो भोगूँगी ही। कुसुम से मिल आया ?"

सब और सारी बात भाभी एकस्वर में कह बैठी। मैं तो बोला ही, "नहीं भाभी।"

"तू कुसुम के पास नहीं गया। जा उसे समझा आना। भगवान् उसे बचा दे।"

और मैं बाहर निकला। कुसुम के पास जाने का साहस फिर भी नहीं हुआ। कुसुम तो पगली थी। न जाने क्या कह बैठे। उसके अनुरोध के आगे मैं चुप रह जाता हूँ। वह बिदा नहीं करेगी। उसका हृदय मैं पढ़ चुका हूँ। चिट्ठी लिखकर माफ़ी माँगी जावेगी। मैं चुपचाप लारी-स्टैंड पर पहुँच गया कि कुसुम का क्षीण स्वर-सा सुनाई पड़ा—क्यों भागे जा रहे हो! तुम बड़े निठुर और झूठ हो जी।

वह कुसुम ही थी। हमारे पड़ोसियों की लड़की कुसुम वह नवयुवती थी। उसका सुन्दर पीला-पीला चेहरा था। वह वेदना और दुःख की भोली सजीव मूर्ति थी। वह रोग में घुली, ढाँचेमात्र में सीमित सजीवता की खानि थी। वही कुसुम थी। हमारे पड़ोस में आई थी एक दिन दूर देश से! साथ में सारा परिवार था। सब आए थे कुसुम को पहाड़ लेकर। डॉक्टरों ने कहा था कि पहाड़ों की हवा में वह भली हो जावेगी।

एक दिन बड़ी सुबह मैंने अपने कमरे की खिड़की खोलकर बाहर झाँका था। पड़ोस के मकान पर नज़र गड़ गई। एक साफ़-सुथरे पलँग पर एक रोगिणी लेटी हुई दिखी।

"कुसुम-कुसुम।" उसकी माँ उसे जगा रही थी। "उठ बेटी, चल घूमने।" और कुसुम अलसाई-सी उठी।

उसी वक़् कुसुम को दूर से पहचाना था । देखा था और बड़ी देर तक अख़बार में छपी पहेलियों को न सुलझा, उसी पर सोचा भी था। शब्दकोष को एक ओर रख २०,००० रुपए इनाम पाने की बात खो गई थी। अब तो सन्मुख सत्य का एक बेबूझा सवाल था। वही—वही रोगिणी कुसुम। भाभी की बीमारी ने नारी-हृदय की अथाहता को बूझ लेने का पाठ पढ़ाया था। भाभी ने समस्त विश्व की रोगिणियों के प्रति सहानुभूति और श्रद्धा का बीज मेरे हृदय में बो दिया था। भाभी मात्र नारी जाति की प्रतिनिधि कब थी। कुसुम भी थी। भाभी और कुसुम ! कौन दुःखी थी अधिक। मेरा तार्किक मन न जाने क्या-क्या सोच रहा था। भाभी का स्वामी है पर कुसुम ? वह कुसुम युवती थी सत्रह-अठारह साल की। यदि वह बीमार न पड़ती तो उसे भी स्वामी मिल जाता। अपने जीवन के उस अस्वस्थ वातावरण में क्या उसके दिल में स्वामी पाने की भूख न उठती होगी ? उसकी सहानुभूति वह बूझती होगी। नारीत्व की उस आग के लिए !

"बहू बुला रही है।" नौकरानी ने कहा। भाभी को दवा देने का वक़् हो गया था। उसे दवा पिलानी थी। आज तक नियुक्त समय पर मैं सब व्यवस्था सँभाल लिया करता था। आज वहीं एक अड़चन लगी। उसी दिन कुसुम ने मुझे जीत लिया। आधे घंटे तक भाभी ने प्रतीक्षा की,

फिर नौकरानी को भेजने में मजबूर हो गई। मेरा अपना मानसिक द्वन्द्व एक अपना ही प्रभाव डाल चुका था। मानवता की एक अबूझी पहेली थी कुसुम। मैं उसे खूब-खूब पहचान लेने की धुन में था। उसका मन मेरी पकड़ में आ जाता। वह नारी मनोविज्ञान से परे नहीं थी। वह भी पति की चाहना रखती होगी। उसकी सहानुभूति पर निर्भर रहना उसने भी चाहा होगा। वह उस अवस्था पर थी, जब युवती पति का सुखद स्वप्न देखती है। जब पति के प्रति भावुकता का उफ़ान उदित होता है। जब वह अनायास पति को मूकता से सुझाती है—हम तो एक ही हैं। मात्र एक—प्रकृति के नारी-पुरुष। नारी का वह अंतरिक्ष, वह सुखद कल्पना, वही सब कुछ ? मानवता का वह मधुर सुख, वह प्यार करने की भावना। कुसुम, बीमार कुसुम, वह क्या नहीं चाहती होगी पति का प्यार ! लेकिन कुसुम थी कुमारी। वह जाल सच्चा नहीं था। वह तो एक दूर का भविष्य था, जिसको रोग के काले परिधान ने अनायास ही ढक लिया।

अब मैंने भाभी को दवा उड़ेलकर दे दी। भाभी ने वह 'घुट' से पी डाली। मैं कुरसी पर बैठ गया। अपने मन में बहुत सारी बातें छुपाकर भी चुपचाप बैठा ही रहा। फिर अपने भावों को बिसारने पूछा, "अब जी कैसा है ?"

भाभी जैसे कि सारा परिवर्तन भाँप रही थी। मैं डर गया। नौकरानी ने कौन जाने भाभी से वह सब कह दिया हो। सच ही मैं पागल-सा उस वक्त खड़ा था। किन्तु सामने सड़क पर कुसुम अपनी माता और भाई-बहिन के साथ घूमने निकल आई थी। वे सब एकाएक हमारे यहाँ चले आए। भाभी उनको जानती थी। कई साल पहिले वे इसी 'हिल स्टेशन' में आए थे। भाभी ने उन सबको बैठने को कहा। लेकिन कुसुम तो खड़ी ही थी। उसकी माँ बोली—"कल ही सुना तुम बीमार हो। अब जाकर घर के काम से निबट सकी हूँ। कुसुम भी बीमार है। बुखार पीछा नहीं छोड़ता। अब तबीयत कैसी है?"

भाभी ने बेकार उठने की चेष्टा करते हुए कहा—"अच्छी है।" वह कुसुम फिर भी चुपचाप खड़ी थी। चेहरे पर रोग की झाइयाँ थीं। सुस्त बहुत थी। मुझसे रहा नहीं गया। बोला मैं, "बैठ जाओ।"

और बिना आनाकानी के वह थकी सी बैठ गई।

मैंने भीतर जाकर, बाज़ार से पान मँगवाए। तश्तरी में सजाकर ले आया। कुसुम की माँ बोली—"मैं तो खाती नहीं हूँ। कुसुम को दो।"

कुसुम पान उठाते मुस्कराई। वह मुस्कान एक व्यावहारिक धन्यवाद ही न था। उसमें अनुग्रह और विनय भी था।

कुछ देर के बाद कुसुम अपनी माँ के साथ चली गई। अब भाभी बोली—"कैसे भले लोग हैं ये !"

तो जवाब दिया मैंने, "भले क्यों नहीं होवेंगे। जब उनकी मिठाई व लीचियों की भरी टोकरी हम खा चुके, तब तो ज़रूर ही भले हैं !"

भाभी हँस पड़ी। अब मुस्कराकर कहा—"डाली तो पहले से आती हैं। फल-फूल ही नहीं कुछ और भी आनेवाला था।"

"क्या भाभी !"

"एक खिलौना।"

"जो टेंटें करता है।" मैं हँस पड़ा।

"नहीं, कान पकड़नेवाला।" भाभी मुस्कराई।

आज भाभी कुछ भावुक बन गई थी। छुट्टियों के इस बड़े अरसे में यह दूसरा ही मौक़ा था। एक दिन वह कि जब वह अपने हृदय को फैला क़सम खा स्वीकार कर चुकी थी कि भाई साहब के बाद वह मुझे प्यार करती थी और आज !

"क्या बात है भाभी ?"

"वाह, सब बातें जैसे बताने की ही होती हैं। समझ लो कि यह नहीं है।"

"तब ठीक है। तुम बैठा रहो। मैं जा रहा हूँ, क्लब में ब्रिज खेलने।"

"रूठ गये हो। तभी तो कान पकड़नेवाली की बात चलाई थी।"

और भाभी ने सारी बात सुनाई कि पिछली बार जब कुसुम अपनी माँ के साथ आई थी, तब मेरी माँ ने उससे रिश्ता तय-सा कर लिया था। आज वह बीमार न पड़ जाती तो !

वह कुसुम भी यह बात क्या सुन चुकी होगी। इस तरह बीमार पड़ना ! उसी वक़्त से वह युवती दिल में और नज़दीक सरक गई। और अब उसे देखकर एक कुतूहल भी होता था। कभी-कभी मैं अपनी खिड़की से देखता कि वह अपने फैले बालों को धूप में सुखा रही है। अक्सर वह उदास-सी लगती। मेरा मन उससे पूछना चाहता—कुसू, अब कैसी हो।

यदि यह मैं कहता, वह ज़रूर शरमा जाती। मेरी भाभी का आदर वह भी करती थी।

आगे एक दिन भाभी को चिम्मच से दलिया खिला रहा था। कुसुम का नौकर आकर बोला—"आज बीबी की तबीयत बहुत ख़राब है।"

मैं सहम गया। भाभी की समझ में बात आई। बोली मुझसे, "देख आओ। मैं ख़ुद खा लूँगी।"

भाभी ने यह क्यों कहा ! जो भाभी उठ तक नहीं सकती थी, भला वह अपने आप कैसे खावेगी ! तो क्या

भाभी जान गई थीं कि कुसुम के प्रति मेरा आकर्षण बढ़ गया है। वह एक व्यंग तो नहीं था। सँभलकर कहा मैंने, "तुम पहिले खा लो भाभी। तब चला जाऊँगा।" और बस चुपचाप खिलाने लग गया।

कुछ देर बाद कुसुम के पास पहुँचा। वह लेटी हुई थी। आँखें मुँदी थीं। छोटा भइया झपकियाँ लेता-लेता पंखा झल रहा था। और लोग काम-काज में जुटे थे। मैं पंखा लेकर, खुद ही झलने लगा। कुसुम की नींद टूटी। वह जग पड़ी। उसने मुझे देखा। इधर-उधर देखा। सँभल गई। शरम की एक बाढ़ उसकी आँखों में आई। फिर अपने दुःख में खो अनमनी-सी लगी। परिस्थितियाँ सँवारकर बोली वह, "पंखा रहने दो। ठंडा तो है। खिड़की से खूब हवा चल रही है।"

मैं फिर भी माना नहीं।

तब कुसुम उठ बैठी। न जाने क्या सोचकर, तपाक से बोली, "सुना तुम्हारी शादी होनेवाली है।"

"मेरी!"

"हाँ, सच बात है। सरोज अब के आठवें में पढ़ रही है। पारसाल ही उसे देखा था। अच्छी है। मुझसे भी गोरी।"

"कुसुम!"

"फिर क्यों पूछोगे किसी को?"

"कुसुम !!"

कुसुम आगे बोल नहीं सकी। आँसू बहने लगे। कुछ ज़रा-सी बात हुई आँसू! उसे समझाते कहा, "कुसुम!"

भला कुसुम के आँसू थम सकते थे।

उसका हाथ अपने में लेकर बोला मैं, "कुसुम!"

फिर भी आँसू रुके नहीं। कुसुम 'हूँ' बोली नहीं।

"कुसुम!"

अब वह ज़रा सँभली। भीगी पलकें उठीं। डबडबाई आँखें मैंने पाईं। वह अपने को समझकर बोली, "हाँ।"

तो कह बैठा मैं, "देख कुसुम, ब्याह एक बार जीवन में होता है। सच बात है यह। वह मेरा हो चुका। माँ ने तीन साल पहले मँगनी की थी। वह अब अटल और अकाट्य है।"

कुसुम कुछ बोली नहीं। बोल भी नहीं सकी। मूक रही। साँसें प्रतिध्वनित हो रही थीं। उसकी भावना, विचारों और आशाओं का रेखा-चित्र खींचकर, मन ही मन मैंने अनुमान लगाया कि यही नारी-हृदय की कहानी है। यहीं पर नारी आगे कुछ नहीं कह सकती है। यहीं पर उसकी भावुकता चूक, वह यथार्थ लगती है। यही था नारी का आग्रह और शिष्टाचार! उसे पुरुष की तब अधिक परवाह नहीं रह जाती है। वह कुसुम भी अब अपने को जीवन के एक पवित्र सूत्र में बँधी पाने

लगी। वह समझ गई कि उसकी भी कहीं एक अपनी जगह है।

भावुकता का वह नाट्य निपट गया। वह अपना हाथ छुड़ाकर मुस्करा उठी। और मुझे ऐसा सा लगा कि मानो कुसुम अब युवती नहीं, एक नववधू है। और अब अपने पति के जीवन से आँखमिचौनी खेलने का दाँव सोच रही है।

मैं अपने यहाँ लौट आया। भाभी के पास जाने का साहस नहीं हुआ। एक भावुकता हृदय में बैठ चुकी थी, उसे लेकर भाभी के आगे कैसे जाता। भाभी के पास फिर भी गया ही। अपने हृदयवाली नारी को भी भाभी के चरणों में सौंप देना चाहता था। चाहता था कि वह भाभी-सा बल पा ले। पिता के परिवार से बाहर उसे भाभी से गृहस्थी के उत्तरदायित्ववाला पाठ पढ़ाना चाहता था।

भाभी ने पूछा—"कुसुम कैसी है।"

"अच्छी ?"

भाभी तो बोली फिर, "तू तो बहुत उदास है। क्या झगड़ा हो गया।"

"नहीं, उसे बुखार बहुत तेज़ रहने लगा है।"

"घबड़ा मत अच्छी हो जावेगी वह।"

फिर कोई भी बात नहीं हुई। भाई साहब ऑफ़िस से

लौट आए थे। भाभी के इलाज बदलने का सवाल था। तीन बड़े-बड़े डॉक्टरों से इस बात पर राय अगली सुबह को ली जानेवाली थी। भाभी उठ नहीं सकती थी। ख़ून सूख रहा था। वह घुल रही थी। शरीर पर एक निर्जीव सुफ़ेदी फैली थी। भाभी न जाने कहाँ जाने पर तुली थी।

और कुसुम! एक दिन फिर मिली थी वह। एक हफ़्ते बाद घूमने साथ-साथ निकले थे। संध्या का सुनहला वक़्त था। उसकी माँ और भाई-बहिन आगे बढ़ गए थे। कुसुम मेरा हाथ पकड़कर चल रही थी। हम बहुत पीछे छूट गए थे। एकाएक सवाल पूछा मैंने, "कुसुम, तूने शादी की मिठाई नहीं खिलाई।"

"और तुमने।"

"मुझे तो अभी सरोज को भी लाना है।"

कुसुम को यह बात लग गई। वह मज़ाक उसे डस गया। वह मुरझाकर बोली, "बड़े स्वार्थी होते हैं पुरुष। कर लो न उसी से शादी। मैं कब मना करती हूँ। इस तरह मुझे डराते क्या हो!"

तब बोला मैं, "तू तो रूठ गई है कुसुम।"

"इसमें रूठना क्या। विधाता ने तुमको पुरुष बनाया है। जो चाहो कर सकते हो। भला तुम्हारा क्या विश्वास?"

"यह झूठ है कुसुम।" कह मैंने उसे अपने वक्षःस्थल

से लगा, उसका माथा चूम लिया था। कुसुम अपने को भूली एक सरल मुद्रा में खड़ी ही थी। वह समझ गई थी कि वह मेरी अपनी ही है।

संध्या की धुँधली लाल-लाल रोशनी पहाड़ की उस चोटी पर पड़ रही थी। दूर एक ओर कुहरा उठ रहा था। और कुसुम ने अपने को मुझे सौंप दिया था।

—तभी तो लॉरी-स्टेंड पर पिछली सारी बातें एक-एक कर याद आईं। कुसुम की वह मलिन हँसी मैं सह नहीं सका। कुसुम से मिलकर, उसे समझाना था। कुसुम ने एक दिन कहा था—अब मैं अच्छी हो रही हूँ। जल्दी स्वस्थ हो जाऊँगी। तुम्हारे समीप रहकर भला क्यों नहीं अच्छी होती।

कितनी भोली है कुसुम। कुछ भी बात छुपाना नहीं जानती। एक दिन तो बात-बात में सारे भविष्य की व्यवस्था का ग्राफ़ खींच डाला था। अक्सर वह गृहस्थी की बातों पर दलील किया करती थी। सारी बातें जैसे कि अपने अधीन थीं और वे सब जीवन के बहीखाते में खरी उतरेंगी।

उसी कुसुम से, हिल-स्टेशन छोड़ने से पहले मिलने का साहस नहीं हुआ। वह कोई भी रोड़ा बीच में लगा लेती। किन्तु मन कहाँ माना वह न्याय उसके प्रति जँचा

नहीं। वह कुछ ही सोच लेती। उसका दुःख भी मेरा दुःख था। उसका रोग—

कुसुम के पास पहुँचा तो उसने सुनाया!

वह नहीं बचेगी। यह कैसी बात थी। क्या यह सच भी हो सकता है। झूठ सब—सब लगा।

लेकिन कुसुम की वही पुरानी भावुकता, वही रूठना!

"सच कह रही हूँ मैं। तुम रुक जाओ। नहीं तो मैं जीकर क्या करूँगी। मेरा मन नहीं लगता है। डर भारी न जाने क्यों अकेले लगता है। तुम मेरे नज़दीक रहा करो।"

यह संभव बात नहीं थी। कैसे रुक सकता मैं? भाभी क्या सोचती। लोग क्या कहते। माना एक दिन रुक ही गया, पर फिर भी आगे जाना ही होगा। यह व्यर्थ का प्रस्ताव था। एक अनहोना सवाल। साहस बटोर, कुसुम को समझाते हुए बोला, "तू बेकार घबड़ाती है। वहाँ जाते ही मैं चिट्ठी तुमको लिखूँगा। किताबें भी भेज दूँगा।"

"नहीं, तुम मत जाओ। नहीं तो मैं तीन-चार दिन में ही मर जाऊँगी।"

"कुसुम?"

"............।"

"तुम रो रही हो कुसुम।"

वह तो सिसक-सिसककर बोली, "तुम जा रहे हो।

जाओ। भला मैं रोकनेवाली कौन हूँ ! यह जाने रखना मैं मर जाऊँगी। तब जाओ न। तुम्हारी मोटर छूटने का वक़्त हो गया है।"

वह उठकर मेरे आगे तनकर खड़ी हो गई। भारी-भारी सिसकियाँ मैंने सुनीं। वह कुम्हला गई थी। बार-बार न जाने क्यों सिहर उठती थी। कुछ देर बाद सँभल-कर बोली, "फिर भी क्या हम कभी मिलेंगे !"

इसका जवाब मैं नहीं दे सका। कुसुम खड़ी ही थी। मैंने उसके दोनों हाथ अपने हाथ में ले, उसके सूखे ओंठों पर अपने ओंठ लगा दिए। वे ओंठ जल रहे थे। उसे भारी बुखार चढ़ गया था। वह अनर्गल बक रही थी। वह अपने होश-हवास में कहाँ थी। चुपचाप उसे चारपाई पर लिटा दिया। उसकी माँ आ पहुँची थी। उनसे मैंने बिदा माँग ली और अपनी पीड़ा को बटोर, बाहर निकल आया।

उसी दिन मैंने वह हिल-स्टेशन छोड़ दिया था।

बनारस में गंगा-किनारे, यूनीवर्सिटी-घाट पर एक मधुर संध्या को मेरे मित्र ने यह सब सुनाया। वह अपनी वैवाहिक समस्या पर प्रकाश डालने लगे और यह जीवन की कहानी भी सुनाई। उनकी शादी होनेवाली थी। माता के अनुरोध के आगे वह इनकार नहीं कर सके। और उस कहानी की कहानी :

बोले वे, मैं बनारस पहुँच गया। आठवें रोज़ मेरा एक मित्र उस हिल-स्टेशन से आया और उसने सुनाया कि मेरे आने के तीसरे दिन सच ही कुसुम मर गई थी। मैं धक्क से रह गया। सोचा, यह कैसा होनहार था! उस मित्र ने यह भी कहा कि वह दो दिन तक बेहोश रही और अन्तिम समय इधर-उधर देखा, गुनगुनाई—झूठे निकले। मेरी बात नहीं मानी।

उसका स्वर गद्गद हो उठा। वह कहता रहा, "विवाह करना पड़ेगा, पर क्या वह नारी, कुसुम-सी आवेगी। जो हृदय कुसुम से हार चुका, वह खाली जगह! भाभी भी एक अरसे तक बीमार रह, आखिर एक दिन हमारे बीच से चली गई। वह भार, दिल की पीड़ा!! उसे एक अज्ञात बालिका को अब उठाना पड़ेगा।"

बड़ी देर तक हम वहीं गंगा की बहती लहरों को देखते रहे। लौट आखिर आए। राह भर मैं सोचता रहा—कुसुम की बात?

मकड़ी का जाला

उस ज्ञानू के पागलपन पर बार-बार विचार किया करता हूँ। उसी ने एक दिन सुझाया था, 'सम्भव मौत है और असम्भव जीवन!'

मेरे जीवन में बुद्धिवादी आदमी के लिए आदर है। उसके पैने तर्क के आगे खामोश भी रह जाता हूँ। हरएक धारणा को ग़लत कोई साबित करता रहे, यह मुझे मान्य नहीं। ज्ञानू के कथन से इसीलिए उस रात अपने को अलग नहीं हटा सका। बार-बार अपने विचारों की कसौटी पर, उसकी बातें परखता ही रह गया।

ज्ञानू ने कहा था, "तू तो बेकार जीवन के खेल से घबड़ा जाया करता है। सुन, ज़रा-ज़रा-सी बातें भी अचरज की होती हैं। एक मक्खी को पकड़ ले। हल्के उसे मींज डाल कि बेहोश वह हो जाय। फिर उसे मकड़ी के ताने हुए जाले पर फेंक देना। इसमें कुतूहल का

कोई सवाल नहीं है। न वह एक अचम्भा ही है। वह मक्खी होश में आते ही, उड़ने की चेष्टा करेगी। तभी मकड़ी, उसके चारों ओर सावधानी से, जाला बुनना शुरू कर देती है। यह क्या सम्भव का सही तमाशा नहीं ?"

मैं भला कैसे कुछ जवाब दे देता। अपना, कहने का अधिकार भी इसे नहीं मानता हूँ। तब तो ज्ञानू हँस पड़ा था, कहता-कहता, "अरे क्यों, क्या हो गया है ? इस विश्व के विकास को मैं आजकल सुलझा रहा हूँ। यह इतनी सब छानबीन कर पायी है।"

"क्या ?" अनायास ही मैं सवाल पूछ बैठा।

"कुछ नहीं। अक्सर मैंने मौत की जीवन— कोमलता से तुलना की है। बहुत भद्दी मौत कही जाती है। वास्तव में वह ऐसी नहीं है। हमारी अज्ञानता है कि !"

"तो क्या मौत की कोमलता से तुलना करोगे ?" डरकर मैंने ज्ञानू की ओर देखा।

मैं ज्ञानू के ज्ञान का क़ायल ज़रूर हूँ। उसकी सङ्गमरमर की बनाई मूर्तियों को देखकर उस पगले के लिए मैंने मोह भी न जाने क्यों बटोर लिया था। रोज़ ही मैं देखता कि वह अपनी छेनी से सुन्दर-सुन्दर ढाँचे गढ़ लेता है। मैं अचम्भित रह जाता। उसकी मूर्तियाँ सजीव होती थीं। जैसे कि प्राण उनमें हों—अब अभी-अभी वे बोलेंगी।

ज्ञानू ने चुप रहना ही कब जाना था। एकाएक तेज़ी

में बोलने लगा, "यह कोई भेद की बात नहीं है। सारी सृष्टि का आधार ही कोमलता है। यह तो सचमुच मौत की एक प्रतीकमात्र है। यह आदि-काल से आज तक लगातार दुनिया भर में फैलती चली गई। यह समाज, गृहस्थी आदि सब कोमलता पर ही टिके हुए हैं। अन्यथा व्यक्ति और समाज में विद्रोह नहीं फैलता। सभ्यता के साथ-साथ इन्सान का दिमाग़ रोज़ भावुकता में डुबकियाँ इसी वजह से लगाता है। यही कारण है कि पुरुष के जीवन में नारी, एक कोमलता की तरह प्रवेश कर, हठीली बन दूर भाग जाती है। उलझन में पड़ा आदमी सब पहचान लेने को फँसता-फँसता चला जाता है। यदि गृहस्थी का निर्माण नहीं होता, तो जिस तरह साँप हरएक ठूँठ पर लिपट जाता है, उसी तरह पुरुष हरएक नारी पर अधिकार जमा लेने की कोशिश करता। यह गृहस्थी का निर्माण करना तो हमने पक्षियों से सीखा है।"

"पक्षियों से ?"

"इसमें आश्चर्य क्या है। कबूतर का जोड़ा तूने नहीं देखा। वैसा आदर्श जोड़ा और नहीं मिलेगा। एक और सुन्दर पक्षी होता है। उसका नर एक घोंसला बनाता है। उसके लुभावने ढाँचे पर बहुत-सी मादायें रीझकर उसमें आती हैं। एक बावली बन उसमें टिक जाती है। उसके बाद उनका नया जीवन शुरू हो जाता है।"

"पशु-पक्षियों के जीवन से सम्बन्धित मनोविज्ञान से कितना सरोकार आख़िर हमें है। यह सब तो एक बकवाद-सा लगता है।"

"तो क्या मैं यह सब बेकार कहा करता हूँ!" ज्ञानू ज़ोर से तीक्ष्ण हँसी हँस पड़ा। वह ध्वनि उन सुकुमार सङ्गमरमर की मूर्तियों से फिसल, दीवाल से टकरा, खिल-खिलाती लगी। और क्या मैंने उन मूर्तियों को छूकर नहीं देखा था। वह स्पर्श दिल पर अनायास एक गुदगुदी फैला देता। इसीलिए कोई भी उत्तर मैंने नहीं दिया।

अपना कहना फिर भी उसने जारी रखा, "दुनिया के भीतरवाले व्यापार की अधिक जानकारी हम लोगों को नहीं है। बहुत-सी बातों का अन्वेषण करते-करते व्यक्ति मिट गये—पाया है शून्य! इस गृहस्थी की स्थापना की कहानियाँ भी अजीब-अजीब हैं। ख़ासकर पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े आदि के रोज़ाना जीवन को असाधारण रूप में बिसारा नहीं जा सकता है। मधुमक्खियाँ हैं, उनमें एक नर और रानी मिलकर गृहस्थी चलाते हैं। बाक़ी सब हैं मज़दूर। वह नर भी ज़रूरत के बाद नष्ट कर दिया जाता है। अपनी-अपनी हिफ़ाज़त का सवाल उठाकर, चिड़ियाँ घोंसले बनाती हैं, पशु खोहों व झाड़ियों में रहते हैं। मछलियाँ हैं। मादा अण्डे देकर भाग जाती है। उसका नर, अण्डों को सेता है। एक पक्षी होता है, वह अपना

घोंसला पेड़ के तने के भीतर बनावेगा। जब मादा गर्भवती होगी, वह भीतर ही बैठी रहेगी। घोंसले का मुँह चोंच जाने लायक़ छोड़कर, बाक़ी मिट्टी से नर बन्द कर देता है। बस, रोज़ अपनी चोंच को भीतर डाल, इसी तरह एक अरसे तक, नर मादा को खाना खिलाया करता है। पशु-पक्षियों में एक मौसम आता है। उन दिनों मादा बहुत भावुक बन जाती है। अपनी रक्षा का सारा भार ही उसे पुरुष को सौंपना होता है। अपनी इस मजबूरी के लिए कुछ एतराज़ नहीं बरतती है। मांसाहारी पेड़ हैं!"

ज्ञानू अधिक न बोल सका। वह बात को तोल रहा था। देखा ही मैंने, अब वह कहीं भी सरल नहीं रह गया है। चेहरे पर उगे बालों की काली-हरी झाँई पड़ी हुई थी। दृढ़ था और कट्टर! उसे जीवन में डर कभी भी नहीं रहा। लेकिन उसका चुपचाप रहना डसने लगा। वह चुप क्यों हो गया। अधूरी बात सुना, क्यों चिन्तित हो गया है। मैंने सन्नाटा तोड़ते हुए पूछ ही डाला, "क्या तुम कह रहे थे, पेड़ों के बारे में।"

'ओफ़, मैं भूल गया था। आजकल वैसे मैं बहुत सीमित हो गया हूँ। हरएक व्यक्ति भारी अनुभवों के बाद यही करेगा। तब उसे यह ज़रूरी नहीं रह जाता है कि छोटी-छोटी बातों की दलील में पड़कर, अपनी निजी राय दे दे। मैंने तो एक लम्बा अरसा नारी-कोमलता को छू

और परख लेने में गँवाया है। वह समझना सहल नहीं है। नारी और पुरुष की हड्डियों की चिकनाहट में अन्तर होता है। उसी तरह जानवरों में भी मादाओं की हड्डियों में फासफोरस की मात्रा बहुत कम होती है। पुरुष और पशु-पक्षियों के नर, लड़ाई लड़ने के लिए हरवक़ तैयार मिलेंगे। यह रक्षा करने का तक़ाज़ा है। इसीलिए उनकी हड्डियों में चूना भी अधिक होता है। वे मज़बूत तो होती ही हैं। तब तो........।"

"और वह मांसाहारी पेड़ !"

"सच पूछ, विचित्र है इस विश्व का रोज़गार। वे पेड़ अपने पत्तों को फैलाये रहते हैं। जैसे ही कोई हिरन अथवा और कोई जानवर नज़दीक आया कि चारों ओर से पत्ते उसे ढक लेते हैं। उनमें छुपे काँटे शरीर में पैठ, खून चूसना शुरू कर देते हैं। आख़िर जब वह मर जाता है. उसे छोड़ देते हैं। यही है हिंसा का आरम्भ !"

"तब हिंसा की ज़रूरत है न ?"

"हिंसा !" भारी ठहाके के साथ झानू हँसा। और असमञ्जस में मैं उसे देखता ही रह गया कि बात क्या है। मनुष्य, पशु-पक्षी और उनकी धारणाओं पर खोज करनेवाले व्यक्ति पर कोई राय देना व्यर्थ लगती है। किसी सही आधार को जाने बिना, आख़िर दलील करना ठीक नहीं होगा। अप्रतिभ इसीलिए उसकी हँसी से

नहीं हुआ। यदि वह चुपके ही कह देता : 'देख, यह है मौत !' भले ही मैं अपनी आँखों की दृष्टि में उस मौत को नहीं पकड़ पाता, उसकी बात पर विश्वास ही कर लेना मुझे था। यह मुमकिन हो चाहे नहीं, अपना अनुरोध सकारण पेश करने में मैं उतावला नहीं होता हूँ।

लेकिन मेरे उस चुप रहने को साध्य मान, उपयोग वह साबित करने में नहीं चूकता : 'नहीं देख रहा है, तू मौत को। बावला कहीं का। अरे, वह तो एक चमक है। बहुत सूक्ष्म ! जो हवा में हर वक़्त तैरती रहती है। वह ईथर से भी हल्की होती है। उसका रुख़ इसीलिए एक ओर नहीं रह जाता। यदि वातावरण और वायुमण्डल ठीक मिल गया, तब वह चमक तेज़ गति से फैलती है। हैज़ा, प्लेग व अन्य और रोगों के पैदा होने का यही कारण है। यह मनुष्य, पशु-पक्षी, मेढक-मछलियाँ आदि जातियाँ कुछ भी नहीं हैं। तोल किसी का कई मन होने पर भी, सच देखा जाय तो, वैज्ञानिक की दृष्टि में अधिक मूल्यवान् नहीं है। अन्त में चूना, लोहा, फासफोरस, रेडियम, ताँबा आदि-आदि धातुयें व उनके क्षार ही ढेरी में बच जाते हैं। किसी धातु की कमी का नाम ही है— मौत ! तब क्या खिलवाड़ है यह जीवन !!'

मैं मौत भी स्वीकार कर लेने को तैयार हूँ; यदि ज्ञानू

उसे अपनी जानकारी की प्रवीणता में सँभालकर रख लेता। न मैं शक्ति-प्रयोग की ओर उदासीन रहना जानता हूँ। शक्ति-प्रयोग रुकावट और अड़चन को हटाने का अक्सर सही हथियार है। तब कौन उसे साध्य नहीं गिनना चाहेगा।

वह ज्ञानू तो उठकर टहलने लग गया। और टहलता ही रहा, परेशान जैसे कि अपने दिल में हो। या कोई भारी उलझन मन में विद्रोह उड़ेलने को तुली थी। अपने कर्तव्य को बिसार, मैंने सवाल किया ही, "क्यों, बात क्या है। तुम तो........?"

"नहीं-नहीं," वह भारी आवाज़ में बोला : "यह धन्धा कोई अजनबी नहीं है। आदिकाल से पशु-पक्षियों में यह चालू है। उसका उपयोग है शारीरिक और मानसिक भूख का साधन ढूँढ़ लेना। यही पुरुष में भी विद्यमान है। अपनी हिफ़ाज़त के लिए वह उसे चाहिए। क़ुदरत ने नारी को फिर भी न जाने क्यों हिंसा दी है। कभी-कभी तो अपनी हिंसा में ग़लती से ख़ुद ही चूर-चूर हो, वह चटख़ जाती है।"

"नारी की वह हिंसा न !"

"नारी के ख़ून में सुफ़ेद कण, लाल कणों से अधिक होते हैं। यह ज़रूरी भी है। उन्हीं से भावुकता सम्बन्धित है। यही भावुकता नारी में मातृत्व की चाहना लाती है।

नहीं तो नारी अपनी कोमलता के घमण्ड में पुरुष को ठुकराती-ठुकराती चली जाती। उसका अनुरोध भी सिर्फ़ आँसुओं पर निर्भर रहता है। इसे हम कर्ता का न्याय कह सकते हैं। पुरुष का भला कौन-सा स्वार्थ नहीं होता। नारी में हिंसा उठनी भी लाज़िम है। वह उसकी शक्ति है। नहीं तो कभी भी उसकी कमज़ोरी साबित हो जाती। शारीरिक आकर्षण के अलावा, पुरुष नहीं तो उसे अलग फेंक देता। वह हितकर नहीं होता। इसी तरह दुनिया का विकास जारी है।"

"हिंसा के इस पहलू को लेकर क्या होगा फिर ?"

"ठीक बात पूछी है तूने। तब सुन, मांसाहारी पेड़ मांस खाते हैं। यदि वे मांसाहारी जानवरों का खून चूसते हैं, तो मुरझा जाते हैं। उसे पचा नहीं सकते। वह बहुत गरम होता है। इसी तरह मांसाहारी जानवर, मांस न खानेवाले जानवरों का शिकार करते हैं।"

ज्ञानू ने आँखें मूँद लीं। अपने भीतर कुछ कुरेदना-सा लगा। कहीं आखिर जीवन में खुरचन पड़ गयी थी। क्यों वह कमरे के भीतर फैले प्रकाश के विपरीत, आँखें मूँद कर कुछ टटोल लेना चाहता था। यह व्यक्ति की थोथी और उलझनवाली अवस्था सर्वदा से उसे पीड़ा पहुँचाती आयी है। यह सब सुनकर अपने भीतर मैं स्वस्थ नहीं था। तभी देखा मैंने कि दीवाल पर एक सुन्दर केलेण्डर

टँगा हुआ है। रोज़ की तारीखों के अलावा, उस पर एक रङ्गीन चित्र भी था। वह चित्र : एक युवती ध्यानमग्न, भूरे बालोंवाले कुत्ते के बच्चे से गोदी भरे, हाथों के सहारे उसे अपने हृदय से लगाये थी। भारी तृष्णा उस लड़की की आँखों में मिली। उसका आकांक्षित अनुग्रह व शारीरिक आकर्षण का लुभाव बहुत जीवित जान पड़ा। यह लगा कि वह कुछ खोकर अपना सारा अपनत्व बिसार बैठी है। अन्यथा उस तरह उस कुत्ते के बच्चे को क्यों लिये रहती। पशु जाति के प्रति उदारतावाले मोह पर कौन अधिक विचार कर सका है।

"क्या देख रहा है तू ?" ज्ञानू ने पकड़ लिया।

"कुछ नहीं।"

"झूठ है बात। वह कुत्ते का बच्चा है। उसकी आँखों-वाला भाव क्या तूने समझ लिया है। कितना कुतूहल है उन आँखों में। ऐसी ही भावना हरएक जाति के बच्चों में होती है, वे बच्चे सबको प्यारे लगते हैं। समझ का आना ही सतर्कता और सावधानी सिखलाता है। तभी अपने निज का सवाल आगे आता है। यह अपने-अपने वैयक्तिक सवाल पर निर्भर रहता है।"

"वह कुत्ते का बच्चा क्यों लिये हुए है ?"

"तू नहीं समझ सका है !"

"नहीं तो ?"

"वह एक सम्भव-प्रेम को खोकर, अपने प्रेमी की भद्दी आकृति उस सुकुमारता से बिसार रही है। इसी तरह नूतन विचार आते हैं।"

"उसका प्रेमी होगा ?"

"अरे, प्रेम कोई शारीरिक नाता ही कब है। हरएक को हक़ है कि वह किसी को प्यार कर ले। वैसे असली प्रेम तो जीवन में, एक बार चिट्टी लकीर की तरह चमक, सर्वदा के लिए बुझ जाता है। बाक़ी तो उसका विद्रोह बचता है, जो छटपटाहट, विकलता और असन्तोष का एक माध्यम है। इस विद्रोह के आधार पर ही दुनिया टिकी है। और आदमी तो समय के रेगिस्तान पर बनी, एक मिटी लकीर पर मजबूरी से चलता है। रुकावट पड़े, कौन-सा मतलब है उसका! भाग्य तो चुपचाप जम्हाई लेता हुआ पड़ा रह जाता है। लेकिन उस विद्रोह में भी कोमलता है। उसको देती है नारी ही!"

"विद्रोह की कोमलता और नारी ?"

"तब मेरा अपना पागलपन इसे समझ। दुनिया में छानबीन और देखभाल कर मैंने यह सब अन्दाज़ लगाया है। किसी का संसार जेल की पक्की ऊँची दीवार की तरह सीमित है। कोई रहट के बैलों की तरह आँखों में पट्टी बाँधकर मीलों का सफ़र तय कर लेते हैं। कुछ का मन ही उनकी दुनिया है—वहीं वे घूमते हैं। आज़मायी बात

सर्वदा से उपयोगी सिद्ध हुई। यह है मन का कोमल व्यभिचार।"

"मन का व्यभिचार! भ्रष्ट ख्याल सब हैं ज्ञानू।" मैं कह ही बैठा। इस तरह की बातें मुझे सह्य नहीं हैं। मैं वैसे थोथी नैतिकता का क़ायल नहीं। उसे अधिक दलील का विषय बनाना फिर भी हितकर नहीं। अर्थहीन धारणाओं का नतीजा कुछ नहीं होता।

और ज्ञानू कुछ नहीं बोला। उसने उठकर उस कैलेण्डर को छू लिया। तस्वीरवाले फ़र्श को रगड़ने लगा। कुत्ते के भूरे बालों को जैसे कि सहला रहा हो। उसका मुँह मुरझा गया था। उसके चेहरे पर फैलती हुई उदासी मैंने भाँप ली। सावधानी से वह मेरे पीछे आकर, खड़ा हो गया। मेरी ठोड़ी को ऊपर आसमान की ओर उठा, कई मिनट तक उसी तरह मेरे चेहरे को पढ़ता रहा। उसकी वह हालत मेरी समझ में नहीं आयी। मैं चुप फिर भी रह गया।

अब वह मुझे छोड़कर हट गया। फिर दरवाज़े तक बढ़ा। बाहर सड़क की ओर टकटकी लगाकर न जाने क्या देखता रहा। उसकी जानकारी के अवलम्बन के ख़िलाफ़ मैंने कोई इच्छा साबित नहीं की। लेकिन हठात् वह दौड़ा-दौड़ा मेरे पास आकर ठहर गया। साँस तेज़ चल रही थी। मुझे टटोलकर पूछा, "क्या सच ही मैं पागल हूँ।

यही लगता है। तू डाक्टर बुला ला। यह बात मैंने अभी-अभी जानी है। अब तू जा। मेरे नज़दीक किसी का रहना ख़तरे से ख़ाली नहीं। न जाने कब मेरा विद्रोह हिंसा बन जाय। मैं हरएक वस्तु का उपयोग, उसे नष्ट करना समझ रहा हूँ।"

"ज्ञानू।"

"तू मुझे क्यों घूर रहा है ?"

"मैं !"

"क्या मैं पागल हो गया हूँ ?"

"तुम पागल !"

"तब क्या समझता है मुझे ?"

"ज्ञानू को—ज्ञानू ही।"

"तो मैं ही न वह ज्ञानू नामक व्यक्ति हूँ। मेरा अस्तित्व कुछ नहीं है। व्यक्ति के ऊपर नाम की तख्ती भी उसके जीवनकाल तक ही मिलेगी। उसके बाद सब झूठ है। जानता है, मैंने अभी बाहर सड़क पर क्या देखा है ?"

"तुमने !"

"उस चौड़ी सड़क पर, दुनिया का रोज़ाना हाल देख रहा था। वह नुक्कड़ पर पानवाला बैठता है। सामने लाल लेटर-बाक्स है। उधर और !"

"तो मतलब क्या है, उन सबसे ?"

"शायद तू नहीं जानता कि सरपट इस दुनिया में आदमी कितना ही भागता रहे, उसका भी अन्त है। उसके बाद............! जिस कोमलता का अनुभव मुझे है, वह बहुत तीक्ष्ण और तीखी है। एक रोगी को मैंने देखा था। उसका अपना कोई भी प्रतिदान रोग के लिए नहीं था। उसकी एक भावुक प्रेमिका थी। वह वेश्या रोगिणी रहकर, अपने प्रेमियों को उस 'कोमल रोग' से वञ्चित नहीं रख सकी। भावुक व्यक्तियों को यह रोग जल्दी घेरता है।"

"आखिर तुम चाहते क्या हो ?"

"मैं !"

"तब क्या झूठ कहता फिरूँ ?"

"अपने मन में तुम्हारा इतना लोभ क्यों है ?"

"यह मैंने कभी भी अस्वीकार नहीं किया है। जब मैं समझदार हो रहा था, एक नारी मेरे पास आयी। और इससे पहले कि मैं सब बातें समझ लूँ, वह भाग गयी थी। वह डर गयी कि मैं उसकी कोमलता को पहचान गया हूँ। उस लड़की का ध्यान एक अरसे तक मुझे रहा, वह भूल नहीं बन सकी। सारे शरीर की पहचान को भूलकर भी, अर्धचेतन दिमाग़ में चेहरे की याद उभर आती थी। उसके बाद मुझे नारी को खूब-खूब देखने का मौक़ा मिला है। कोई-न-कोई तत्त्व उसमें था ही। नारी फ़ौलाद की

तरह कड़ी नहीं होती है। मोम की तरह पिघल जानेवाले गुण, अधिक नारियों में मैंने पाये हैं। इसीलिए भय मेरे दिल में पैदा हो गया। उन दिनों जीवन और दुनिया के वास्ते को तोलनेवाला कोई भी बाँट मेरे पास नहीं था। और अपने ढाँचे पर आखिरी ठीक रूप फैलाने के लिए, एक लड़की के पोज उन दिनों मैं ले रहा था। उसकी झुँझलाहट में मैंने पाया कि वह मेरे बहुत समीप आ दिल को छू लेती है। मैं जीवन में मिलावट का आदी नहीं हूँ। न नक़ली जीवन को अपेक्षित गिनता हूँ। उस लड़की और मेरे बीच, सङ्गमरमर का ढाँचा ही एक मार्फ़त रहा है। वह मूर्ति ठीक बन भी नहीं पायी थी कि मैंने सुना, उस लड़की के चेचक फूट निकली है। उसके चेहरे पर भी भद्दे-भद्दे छापे छूट गये थे। वह बदसूरती अखरी, लौटकर मैंने अपनी मूर्ति के चेहरे पर भी गुस्से में छेनी से गड्ढे बनाने शुरू कर दिये। वह मेरी अजीब भावुकता थी। अन्यथा यह असफल प्रयास नहीं करता। क्या मैं यह नहीं जानता हूँ कि जिन वस्तुओं और व्यक्तियों की भावना से कलाकार चीज़ें गढ़ते हैं, वह फिर जूठी हो जाती हैं। व्यक्ति को कला ढक लेती है। वह मूर्ति भले ही मूल्यवान् हो, वे व्यक्ति नहीं होते। सकारण वे साधारण श्रेणी में गिनी जाती हैं। कलाकार के इस विद्रोह को अपने में सुलगाकर, पग-पग पर मुझे डर लगता चला

गया कि मैं नष्ट की भावना क्यों अपने पर लागू करना चाहता हूँ।"

"नारी जाति की कोमलता का तुम्हारा यह बहाना है।"

"मैं इसे साध्य कब मानता हूँ। कारण कि जीवित नारी से, मुर्दा नारी के शरीर में कोमलता अधिक होती है। तब उसमें हठवाली समीक्षा कहाँ बाकी बचती है। उसी बात को अकाट्य फिलहाल मैंने मान लिया है। यह मेरी अपनी कोई तृष्णा नहीं है। एक ख्वाहिश यह ज़रूर है कि नारी की समूची कोमलता को सँवार, एक मूर्ति गढ़ूँगा। वही होगी मौत की सही प्रतीक! तो भी आनाकानी कोई नहीं है। मैं सैकड़ों नारी-शरीरों को सहला चुका हूँ। पशु-पक्षियों की मादाओं की कोमलता की जाँच भी मैंने की है। नारी-स्वभाव परखना, पहले जितना कठिन मालूम होता था, आज वह बात नहीं है। सब आसान ही है। उसके संस्कारों में चापलूसी अधिक मिलेगी। लेकिन पुरुष के शरीर में लोहा अधिक होता है, जब कि नारी अधिक क्षारों की बनी है। यह असमञ्जस का सवाल नहीं।"

अधिक कुछ भी न कहकर, झानू एक झरोखे से उठ मेरे पास आया और बोला, "चल, तुझे चाय पिला लाऊँ। भूख भी लग गयी होगी। यह काम तुझे सहल नहीं लग रहा होगा। लेकिन डाक्टरों को ही न देखा कर, वे आपरेशन करते हैं। उनकी व्यवस्था है कि रोग को ठीक-ठीक पहचान

लें। मैं भी वैसा ही हूँ। जहाँ पर डाक्टर मुर्दा को छोड़ देते हैं, वहीं से मैं आदमी को उठा लाता हूँ। यह तो अपने-अपने व्यक्तित्व का सवाल है ही।"

अब मैं और ज्ञानू एक रिस्तोराँ में पहुँच गये थे। उसने भीतर पहुँच भारी आवाज़ में पुकारा, "ब्वाय ! ब्वाय !!"

उसके आने पर पूछा, "मदिरा' होगी। और एक चाय का केटल भी ले आना।"

"चाय और शराब !" अचरज से मैंने उसकी ओर देखा।

"ठीक होता है—यह पेय द्रव्य आज चखकर देख लेना। इसके बाद दिमाग़ पर बाहरी प्रभाव नहीं पड़ता है।"

सच ही उसने एक गिलास पर चाय उड़ेल, उसमें दो पेग शराब के भी मिला दिये। सौंपते कहा मुझसे, "ले इसे चुप के पी जा। क्या समझेगा कि सोमरस तुझे पिला रहा हूँ। हरएक को यह प्राप्त नहीं होता है। न इस नुस्ख़े का ज्ञान, मेरे अलावा किसी और को ही है।"

सब पीकर मैं बोला, "एक बात पूछूँ ज्ञानू।"

"क्या है ?"

"तू प्रेम पर विश्वास करता है।"

"क्यों, क्या बात है।"

"मेरे दिल में तो लड़कियों का रूप-रङ्ग, बार-बार, अनायास ही न-जाने क्यों मचल उठता है।"

"कारण कि तू नारी को धब्बा मानता है।"

"धब्बा !"

"नारी को जीवन में धब्बे की तरह टटोलने का ख्याल फिर मन में क्यों लाता है ! उसकी किसी सजावट से उत्तेजित हो जाना, ग़लत है।"

"मैं तो........!"

"जाने दे सारी दलील को। एक गिलास और तेरे लिए बनाता हूँ—पी जा। स्वास्थ्य के लिए लाभदायक चीज़ है।"

ज्ञानू की बात स्वीकार करनी पड़ी। वह दुनिया को जिस तरह चाहे, उसी रुख में बदलने का दावा भी किसी दिन कर, उसी को अमल में लाता हुआ मिलेगा। वह मिथ्या को सम्भव कहकर, एकाएक सब बातें जड़ की तरह कड़ी तो मानता ही है। तो भी सब निराधार नहीं।"

अपनी ओर से कुछ भी अधिक न कह, मैं चुपचाप चला गया। ज्ञानू की आज्ञा, कि कभी-कभी उससे मिल लिया करूँ, मैंने मान ली थी।

आगे जब भी मैं गया, देखता था कि ज्ञानू अपने काम में मशगूल है। एक बड़ा सङ्गमरमर का टुकड़ा लेकर, खट-खट-खट उस पर छेनी चलाना ही बाकी काम रह गया था। उस ऊँचे पत्थर पर एक आकृति भी बनती मैं पाता। कभी-कभी तो देखता था कि वह नारी का एक ढाँचा बन

रहा है—बिलकुल नग्न ! ज्ञानू अपने काम में ही मशगूल मिलता । उसे कुछ भी समझाने की फुरसत नहीं थी ।

—कुछ दिन कटे । ज्ञानू ने एक दिन मुझसे कहा, "देख, अब है न यह नारी का एक सही रूपक ।"

देखा मैंने, वह ठीक बात थी । बड़ी-बड़ी आँखें, वक्षस्थल,—शरीर के सारे अङ्गों को देखकर आँखें ललचा जाती थीं ।

ज्ञानू अधिक कुछ भी न कहकर अपने काम में लग जाता था । उसके काम की सराहना कई बार मैंने मन ही मन की । चुप फिर भी रहा । सच ही वह अतुल रूपवाला एक स्टैचू बना रहा था ।

लेकिन उस दिन ज्ञानू के चेहरे पर मैंने भारी खुशी पायी । वह मुझे देख, गद्गद होकर बोला, "अब वह कोमलता मैंने पा ली है । यह देख—यह है न !"

उसकी आँखें स्थिर कभी तो रह जाती थीं । यह कैसी उसकी उत्प्रेक्षा थी । वह उस मूर्ति के आगे मूक क्यों खड़ा रह जाता था । एकाएक वह चौंक उठा । भारी घबराहट में मेरी ओर देखा । उसकी आँखें बुझ रही थीं । तब क्या बात होगी ! मैं कुछ निर्णय नहीं कर पाया था कि उसने बात शुरू की, "सब व्यर्थ है—व्यर्थ !"

"क्या हुआ ।"

"तू नहीं देख रहा है ।"

"मैं !"

"वह कोमलता, वासना बन रही है।"

"तुम तो कहते थे....!"

"मैं कहता था—खाक, पत्थर ! इस कोमलता और वासना के बीच कोई ठीक-सी सीमा नहीं निकली। कभी मैंने उस पर नहीं सोचा था। और अब तो....!"

"क्यों, परेशानी क्या है ?"

"परेशानी ! तू उसकी आँखें नहीं देख रहा है। भय वहाँ नहीं। जीतवाला कुतूहल है। वह मेरे दिल में धँसती जा रही है। उस चेष्टा में अपनाकर, मिटा डालनेवाले भाव स्पष्ट हैं।"

"मुझे तो कुछ नहीं दीखता है।"

"आँखों की मादकता पर तेरा जो विश्वास है—ठीक ही था। भावुकता के चूक जाने के बाद उसकी जगह है।" कहकर वह मूर्ति के ओंठों को अपनी उँगलियों से रगड़ने लगा।

"क्या कर रहे हो ज्ञानू।" मैं कुछ न समझ कह बैठा।

"ये खुरखुरे हो गये हैं। मैंने कोमल बनाये थे।"

"कोमल थे ये।"

"यह मेरी असफलता है।"

"तेरी असफलता !"

"इस मूर्ति को नष्ट कर देना पड़ेगा।"

"नष्ट !"

"मेरी पहचान की एक युवती की मौत 'बेरबरी' से हुई थी। उसके ओंठ मौत के बाद खुरखुरे मैंने पाये थे।"

"लेकिन यह तो पत्थर है।"

"तो भी इसमें जीवन है।"

"कैसा जीवन !"

"छातियाँ मचल रही हैं। जैसे कि माँ बनने की उसकी ख्वाहिश हो। यह नारी के प्रति अन्याय है। उसकी कोमलता का साधारण उपयोग कितना भद्दा है।"

"मैं कुछ भी नहीं समझ सका हूँ ज्ञानू।"

"वैसी कोई भी बात नहीं है। मैं ख़ुद नारी के प्रभाव में दब गया। कोमलता के बाद नहीं तो मूर्तिवाली इस नारी में वासना की गति न आती। इसको सजीव बनाना ही मेरी असफलता है। इसे तू मेरी कला की मौत समझ ले। मैंने इसमें वासना का जाल फैलाकर, अब उसमें मक्खी की तरह फँसने का काम कर लिया है।"

"साफ़-साफ़ बातें कहो न तुम !"

"यह भी भेद है। सुन तू। मूर्ति गढ़ते-गढ़ते, यह मुझसे बोलने लगी। तू शायद नहीं जानता कि इन मूर्तियों में भी आवाज़ होती है। छेनी के खन-खन में वह लक्षण मैंने पाकर, बात समझ ली। तब इसकी कोमलता पिघलने लगी। मैं अपने को ज़रा भी क़ाबू में नहीं रख सका। फिर देखा मैंने, उसकी छातियों पर भरा दूध, मवाद बनकर बह रहा

है। अनायास मेरे दिमाग़ में एक स्मृति फैल गयी। हमारे पड़ोस की एक लड़की की मौत छाती के दूध के मवाद में कीड़े पड़ जाने से हुई थी। यह सब पाकर मैं काँप उठा। और वह लड़की घाट पर भी मैंने देखी थी। उसकी छातियों के ऊपर लकड़ी चुनते मैं झिझक उठा था। इसमें मातृत्व की चाहना है। वह वासना के बाद का अध्याय समझ!"

यह कहकर ज्ञानू उदास हो गया। मैं चुपचाप बैठा रहा। मेरे मन में बहुत-सी बातें उठ रही थीं। तभी मैंने देखा कि ज्ञानू ज़ोर-ज़ोर से उस मूर्ति पर छेनी चला रहा था। उसके इस कर्तव्य को मैं देखता-देखता ही रह गया। कुछ भी कहने का जैसे कि अपना मेरा कोई भी अधिकार नहीं हो। छेनी की तेज़ आवाज़ के बीच फिर भी मैं बोल ही बैठा, "इसे नष्ट क्यों कर रहे हो।"

"नष्ट!"

"बड़ी प्यारी लगती है वह।"

"वह प्यार कठोर है।"

"तुम तो कोमल उसे कहते थे।"

"वह कोमलता मौत निकली।"

"मौत!"

"एक वैज्ञानिक की बात, धातु ही सब कुछ हैं। उनके बल पर इन्सान और हैवान, दोनों खड़े हो जाते हैं।"

"यह तुम्हारी अनधिकार-चेष्टा है।"

"मेरी।" कहकर वह छेनी और ज़ोर-ज़ोर से चलाकर मूर्ति को नष्ट करने लग गया। अब देखा ही मैंने कि वह सङ्गमरमर के टुकड़ों के बीच थका हुआ-सा बैठा था। बोला मुझसे, "बैठ जा तू भी।"

मैं बैठ गया।

ज्ञानू सुस्त पड़ गया था। इससे पहले कि मैं कुछ कहूँ, लाचार होकर वह बोला, "यह मेरी सनक थी कि जीवन की सबसे प्यारी चीज़ बनाकर, उसे नष्ट कर डाला है। वह मेरी मौत थी।"

"मौत........!"

लेकिन इससे पहले ही मैंने पाया कि ज्ञानू बाहर चला गया था।

चित्रकार और शिल्पी

क्लब में सब यार-दोस्त जुड़े थे। चाय, ब्रिज, सोलो, कैरम यह सब चालू था। एक ओर रीडिंग-रूम की कुर्सियों पर बैठे लोग अख़बार पढ़ने में लीन थे। दूसरी ओर लाइब्रेरी की बेञ्चें भी खाली न थीं।

एकाएक ब्रिज-टेबुल से ठहाका मचा, सब हँसने लगे। इधर-उधर के लोग भी जमा हो गये। बात यह थी कि शिल्पी (Sculptor) सुरेन्द्र आज पहिले-पहल 'स्टेक' पर ब्रिज खेलने को राज़ी हुआ था। साथ ही वह चित्रकार मनोहर का साथी था।

खेल शुरू हुआ और चलता रहा। दो 'रबर' के बाद एकाएक सुरेन्द्र उठा और पैसे चुकाते बोला, "बस !"

मनोहर ने कहा—"हिम्मत हार गये यार !"

लेकिन सुरेन्द्र अब खेलना न चाहता था। उसने कहा, "यह बात नहीं है। कल सही।"

लोगों ने ज़्यादा ज़ोर नहीं दिया।

करीबन् ६।। बज गये थे। एकाएक मिस शीला ने कहा, "क्लब-घर में सब कुछ है, लेकिन मि० सुरेन्द्र और मनोहर दुनिया-भर को सब कुछ देकर भी क्या हमें कोरा ही रखेंगे।"

सब लोग जैसे सोते से जाग पड़े। यह तय हुआ, दोनों को दो माह का मौका दिया जावे कि कुछ क्लब को दे सकें।

शिल्पी और चित्रकार राज़ी हो गये।

सुरेन्द्र और मनोहर सगे दोस्त हैं। दोनों कलाकार साथ-साथ रहते हैं। उस रात्रि क्लब से लौटकर दोनों बड़ी रात तक बातें करते रहे। अगली सुबह बड़े कमरे के बीच में पर्दा डाला गया। शर्त हुई कि दोनों साथ-साथ काम करेंगे। एक-दूसरे की चीज़ को बिना पूरी हुए न देखेंगे। न आपस में कुछ बात करेंगे कि भाव इधर-उधर बदलें।

दूसरी सुबह दोनों उठे। शिल्पी घूमने बाहर निकला और चित्रकार भी। कुछ दूरी तक दोनों साथ-साथ गये। अब शिल्पी ने जङ्गल की राह पकड़ी और चित्रकार ने शहर की।

चित्रकार :

मनोहर होटल पहुँचा। वहाँ उसने चाय मँगवायी और पी। चुपचाप चाय पीता रहा।

देखा, श्याम चला जा रहा था। पुकारा—श्याम ? श्याम ??

श्याम के आने पर कहा, "वाह यार, तुम भागे चले जा रहे थे।"

श्याम भी चाय में शामिल हुआ। श्याम ने पूछा, सुना "क्लब के लिए नया चित्र बना रहे हो।"

"नया........!" उसने दुहराया। हँस पड़ा—"भई, कुछ भी नया नहीं। वह तो सब ठग लेने की बातें हैं। फेर-फार कर रङ्गों को अदल-बदल नयी चीज़ ख़ुद ही बन जाती है।"

वह लौटकर कमरे में आया। आकर उसने 'कैनवास' को ठीक किया और उस पर पेन्सिल चलाने लगा। पेन्सिल चलती, जैसे कुछ निश्चिन हो। कहीं भी कुछ सोचने-समझने-का सवाल न था।

बीच-बीच में याद आता, कमला ने क्या कहा था,—"वह तस्वीर ठीक नहीं। वह तो ज़्यादा उभरी है। मैं कहाँ हूँ ऐसी।"

"कमला....।"

"देखो तुम ठगते हो। झूठे हो।"

"क्या तुम सच कहती हो कमला !"

"और नहीं........! कहाँ हैं मेरे इतने लम्बे बाल ?"

वह कैसे समझाता कमला को कि उसने अपनी आँखों में उसे उतना ही पाया है। कमला मानेगी थोड़े ही। कमला क्या जाने कि कलाकार आईने से भी साफ परछाँई उतार लेता है। वह नहीं जानती है कि वह कमला की तसबीर नहीं, मनोहर के दिल की भावना है।

"मैं ऐसे थोड़े ही बैठी थी।"

"शायद, तुम्हारा यही पोज आँखों को ठीक लगा हो। जो चीज़ भली लगती है, प्रभाव डालती है। पकड़ में आ जाती है। वही टिकी मिलेगी।"

"लेकिन........!"

"लाओ कमला, तुम्हें पसन्द न हो, तो फाड़ डालें। कल तुम दूसरी तस्वीर खिंचवा लेना।" कह उसने तसवीर छीन लेनी चाही थी।

कमला छुड़ाती भाग गयी। अन्दर चली गयी। लौटकर जब आयी, खाली थी। हँसती बोली, "फाड़ डालोगे, तुम्हारा क्या जाता है। लेकिन मुझे तो दो घण्टे गरदन-मरोड़ बैठक लगा लेने की फ़ुरसत नहीं। तुम बड़े स्वार्थी हो।"

"स्वार्थी........!"

"जानते हो न, कमला वैसे आवेगी नहीं। कोई बहाना तो चाहिए ही।"

"नहीं, यह बात नहीं। अब मैं तुम्हारी तसवीर वैसी ही बना सकता हूँ।"

"बना सकते हो....!" कमला आश्चर्य से बोली थी।

—और चित्रकार की पेन्सिल ने एक बड़ा जाल 'कैनवास' पर फैलाना शुरू किया। अजीब-अजीब उलझी रेखायें! कुछ भी समझ में न आती थीं। वह ख़ूब निश्चिन्त होकर जुटा था। इधर से देखता, उधर खड़ा होता।

सोचता: कमला सुन्दर न होती, तब! कमला की आँखों में। कमला की बातें। कमला का चित्र ही उसके जीवन की सफलता है।

उसने थककर पेन्सिल रख दी। चित्र को ढका। बाहर निकला और फिर होटल में पहुँचकर खाना खाने लगा। खाना खाते-खाते देखा, लूसी मैनेजर से बातें कर रही है। वह पास आयी, बोली—"हलो आर्टिस्ट!"

उसने उसके लिए भी डिशें मँगवायीं और दोनों खाना खाने लगे।

लूसी बोली—" 'प्लाज़ा' में नया खेल आया है। आप चलेंगे।"

"कोई हर्ज नहीं।"

"और मेरी तसवीर........?"

"तुम जानती हो।"

"ओ ! मुझे मालूम है। शीला कहती थी, आपने क्लब के लिए नयी चीज़ शुरू की है। क्या ख़याल है।"

"कुछ ख़ास नहीं। जो बन जावे ठीक। मुझे एक बड़ी जिम्मेदारी तो निभानी नहीं है। वह तो एक बात की बात थी।"

सन्ध्या को वह लूसी के साथ सिनेमा गया। लौटकर निश्चिन्त सो गया।

शिल्पी :

सुरेन्द्र चुपचाप आगे बढ़ा। बढ़ा और बढ़ता ही चला गया। मन में कोई बात टिकती न थी। एक उलझन साथ थी। फिक्र घेरे थी। वह ख़ुद समझ न सकता था।

वह रुक पड़ा और अन्दर बड़े फाटक से गया। देखा, चारों ओर कब्रें थीं।

एक कब्र के पास खड़ा हुआ, लिखा था :—

वैलिस, उम्र उन्तीस साल........। एक अनाथ बच्चे को बचाते मोटर के नीचे दब, मर गया।

वैलिस का एक ख़ाका सामने आया। देखा उसने दूर—बच्चे को गली में खेलते। फिर हार्न की 'पों-पों-पों'। आख़िर वैलिस का भागकर बच्चे को बचाना। वैलिस की लाश, ख़ून में लथपथ भीगी........!

वह पत्थर के पास ही घास पर बैठ गया। वह पत्थर जीवन का 'सिम्बोल' उसे लगा।

आगे उसने देखी सुन्दर फूलों से घिरी दूसरी कब्र। लिखा था :—प्रसिद्ध वैज्ञानिक '—'

फिर उसने तीसरी कब्र देखी; छोटी और एक ओर से उजड़ी। नाम मिट चुका था। चूना ज़मीन पर गिर रहा था। लगा, चन्द दिनों में कब्र कहीं भी न रहेगी।

चौथी, पाँचवीं...., ग्यारहवीं। कितनी बड़ी दुनिया और उनकी यह यादगार—पत्थरों और अक्षरों में सीमित भर।

एक विद्रोह हृदय में उठा। वह चुपचाप लौट आया। होटल में अकेले कोने की मेज़ पर खाना खाया। जल्दी खा-पीकर डेरे पहुँचा। लेट गया। मन अच्छा न था, मूड ख़राब था। सो गया।

दिन-भर सोया रहा। साँझ को फिर घूमने निकला। कब्रिस्तान के पास पहुँचा। धीरे-धीरे अँधियारा हो आया था। एक-एक कर सब कब्रें छुपने लगी थीं। सोचा उसने, सारी दुनिया भी छुप जावेगी एक दिन।

रात्रि को उसने एक अच्छा पत्थर निकाला। उसे टिकाया और छेनी चलाने लगा। सावधानी से काट-छाँट करता, जैसे कि ज़रा ग़लती पर वह हार सकता हो। मन माफिक चीज़ उतार लेने की तीव्र अभिलाषा बार-बार दिल में उठती थी।

छेनी चलती, पत्थर की छोटी-छोटी कनें कमरे में इधर-

उधर बिखरतीं। छेनी सावधानी से वह चलाता, ज़ोर से चलाते डर लगता था।

हाथ थक गया। उसे याद आया—प्रसिद्ध वैज्ञानिक, उसकी क़ब्र, उस पर लिखी लिखावट।

वैज्ञानिक जब 'एक्सपेरिमेण्ट' करता रहा होगा, क्या-क्या उसने नहीं सोचा होगा। आज वह भी मात्र एक प्रयोग रहकर ख़त्म हो गया। मर गया, मिट गया, चला गया। सिर्फ़ लिखावट और पत्थर में रह गया। न लेबोरेटरी ने साथ दिया, न औज़ारों ने और न उतने बड़े दिमाग़ ने ही! सब धूल में मिल गया।

और छेनी चली। उधर ज़ोर लग जाने से टूट न जावे। उसने जाँचा, बारीक छेनी निकाली, फिर उसे रगड़ा। दूर हटकर कोणों पर विचार किया। नाप लिया, एक-एक बात तोली। कहीं भी कुछ कमी न थी; फिर भी मन में सन्देह था। हर बार एक वहम-सा उठता, जो हटता नहीं था।

फिर चूना, टूटती वह क़ब्र। छेनी ज़ोर से न चलानी चाहिए। यहाँ पर ठीक नहीं। कैसी मुसीबत उसने यह ले ली। यह कलाकार होना उसे परेशान करता है।

दुनिया-भर की क़ब्रों की ज़िम्मेदारी भी बुरी नहीं। हर मनुष्य को पहचान लेने का वह बुरा साधन नहीं।

खुट, खुट, खुट·· ····खन, खन, खन········चलती छेनी।

यह कैसा अधिकार। बिलकुल बेकार सवाल। क़ब्र, छेनी, मूर्ति—क्या यह सब सारी दुनिया को निगल लेंगी।

उसने छेनी एक ओर सँवारकर रख दी। हँस पड़ा। सोचा, 'सेण्टिमेण्ट्स' का सवाल नहीं। कुछ भाव व्यक्त होंगे। होकर ही रहेंगे। यह चालू ही सही।

उसने मूर्ति को काले परदे से ढक लिया। चुपचाप सोने चला गया।

रोज़ ही दोनों काम करते थे। अपना-अपना दायरा था, सीमा थी, स्थान था। शिल्पी को समाज से अलग रहने की फ़िक्र थी। वह अपने में ही चलता-फिरता कुछ सोच लेता था। इधर-उधर बाहर कहीं न जाता। उसका स्वभाव गम्भीर होता चला जा रहा था। वह हँसता न था। बहुत कम बोलता था। सभा, समाज से उसे नफ़रत हो आयी थी। वह कुछ ऐसी चीज़ पा लेना चाहता था, जो उसकी उलझनों को हटा देगी।

चित्रकार के पास काफ़ी ख़ाली वक़्त था। रोज़ क्लब पहुँचता। होटल में दो-चार पेग भी लगा लेता। मित्रों से हँस-हँसकर बातें करता—जैसे वह बिलकुल पहला ही हो। चित्र के बारे में कहता—वह कोई ख़ास सूझ नहीं, न मौलिक ही है। आख़िरी वक़्त तक नहीं कह सकता कि क्या रूप ले लेगी। रोज़ ब्रिज खेलता। जीते पैसों को

वहीं बैठ चाय-पानी में उड़ा डालता। कहीं कोई अन्तर उसमें न मिलता था।

चौबीसवें दिन :

चित्रकार कमला के यहाँ पहुँचा। कमला बाग़ में टहल रही थी। मनोहर को देखते ही दौड़े-दौड़े आयी। बोली—"बड़ी सुबह चले आये।"

"कल भूखे रहने की नौबत आयी।"

"भूखे रहने की........!"

"हाँ, चित्र बनाते-बनाते कुछ सूझा नहीं। बड़ी रात बीत गयी। जब कुछ दीखा नहीं, सोचा, अब बेकार है। उस अँधियारे में ही चित्र को देखता रह गया। जब भूख लगी, तब मालूम हुआ बारह बज गये। भूख का तक़ाज़ा हुआ, होटल चले चलने का सवाल उठा। पाँवों ने जवाब दिया, वहाँ जाकर क्या करोगे। खाना नहीं मिलेगा। पेट का कहना था—कोशिश तो हरएक मनुष्य करता है। ख़ैर, होटल पहुँचा, वहाँ आख़िरी 'प्लेटें' धुल रही थीं।" कह, मनोहर हँस पड़ा।

"चलो बैठो।" कमला बोली।

दोनों कमरे में बैठ गये। कमला उठी, कहा—"चाय बनवाने को कह दूँ।"

कुछ देर में लौटकर आयी नौकर ने सामान मेज़ पर लगाया।

मनोहर ने बिस्कुट उठाया, खा गया।

कमला चुपचाप खड़ी थी।

मनोहर बोला—"बैठो कमला।"

कमला बैठ गयी।

"मौन व्रत ले लिया। चाय नहीं पीओगी?"

कमला ने चाय प्याले में निकाली और पीने लगी। फिर टोस्ट मुँह में ठूँस लिया।

मनोहर बोला—"सोचता हूँ—चाय की प्याली उठाये तुम्हारा चित्र बनाकर ही दे दूँ। वह उपयुक्त भी होगा।"

"कभी कुछ और भी सोचते हो, या........।"

"तू ही बता न, क्या सोचा करूँ।"

"क्या........?" कमला ख़ुद न जानती थी। न जान लेने की फ़िक्र में थी।

"ख़ैर, तुम राज़ी हो न।"

"जैसे मैंने ही ठेका ले लिया है।"

"तुम क्या समझती हो। अब क्या कोई ठेकेदार मुझे ले लेगा।"

"तुम यह क्या कहते हो।"

"इसका जवाब मेरे पास नहीं।"

"फिर भी........।"

"कही बात मिट जाती है, न कही अन्दर ही अन्दर कुरेदती तो रहती है।"

"न कहो फिर।" कह कमला अन्दर चली गयी। कुछ देर में लौटी और पान ले आयी।

मनोहर ने पान चबाया—कड़वा।

"यह कड़वा है।"

"झूठ!"

"सच कहता हूँ। कुनाइन मिलाकर लायी हो।"

"खूब। इसे ही क्यों कह दिया। अभी एक तर्क पेश किया और खुद अपने आप मिटा डाला। ऐसों का कोई एतबार नहीं।"

"तुम जीती........।"

"यह शरमाने का अच्छा तरीक़ा अख्तियार कर लिया है।"

"ठीक।"

"क्या कहते हो जी।" कह कमला ने 'टाफी' निकाली और दे दी।

मनोहर ने उस रात्रि अपने चित्र को काला-काला 'शेड' देते सोचा—कमला की रूपरेखा पूरी भावना है। उसका एक 'पोज' उसकी ज़िन्दगी को चालू रखने को काफ़ी है। कमला जीवन में न आती, तो वह कुछ न था। कमला की याद बार-बार आती। वह जामुनी साड़ी में अच्छी लगती है। वह उससे कहेगा—लाल जम्पर खिलता है। अपने मन की सब बातें वह ज़ाहिर करेगा।

और काला-काला शेड यहाँ गहरा होगा। वह लाइन मोटी होगी। यह पतली और यह रेखायें........। ठीक, कमला जब चित्र देखेगी, अवाक् रहेगी। तभी कमला सोचेगी—मनोहर सफल है। लेकिन कमला में कितना बचपन है। चित्र में भी कुछ वैसे भाव वह बिखेर सकता तो उसकी चित्रकला सफल हो जाती। बचपन आङ्कित कर लेने की भावना। एक ठठोली कमला की। चित्र उसके बिना फीका लगेगा।

आसमान नीला-नीला....! नीला....नीला !! कूची चलेगी, आसमान बन जावेगा। कूची में नीलापन लिये आसमान है। कैनवास पर आकाश। आसमान में....।

आँखों में नींद थी, कमला की रूपरेखा थी। वह सो गया।

शिल्पी आज ज़रा देर से उठा। गङ्गा की ओर बढ़ गया। इधर-उधर घूमता फिरा। देखा उसने—सामने मरघट। मुर्दों की इधर-उधर फैली हड्डियाँ। सामने रेत का एक बड़ा मैदान। नदी के किनारे से लगा एक बच्चा—आँखें मुँदी, पेट फूला, नग्न। भूरे-भूरे बाल, छोटे-छोटे हाथ-पाँव........।

आगे—हड्डियाँ। रीढ़ की हड्डी, कई अन्य गाँठें पड़ीं, एक दूसरे से जकड़ी। उस पर फैली चपटी निकली हड्डियाँ।

कुछ दूर आगे एक सिर, आँखों का गड्ढा, उस पर दाँत एक-दूसरे से लगे। माथे पर कुछ हल्की-हल्की लाइनें—कथित विधाता का लिखा भाग्य, कि अन्त में नदी किनारे पड़ा रहना तू। वह लम्बा हाथ !

कुछ और आगे बढ़—सुलगती चिता, उस पर से निकलता धुआँ। चारों ओर सजी लकड़ियाँ। सोचा उसने जीवन की आख़िरी 'फ़िलासफ़ी' पर। सफ़ेद सङ्गमरमर-सा पूरा सामने पड़ा हड्डियों का नरकङ्काल क्या क़ब-घर लायक़ नहीं। क्यों बेकार वह मेहनत करता है। ले जाकर एक दिन दे दे न—यह लो। मेरी सामर्थ्य क्या, कुछ और बना सकूँ।

घर आ फिर उसने खनखन शुरू किया। बड़ी नाज़ुक जगह है यह—सोचा। मूर्ति बोलने लगी—बस, बस क्या सोच रहे हो। बस, बस, बस, हैं, इतनी गहरी चोट ! गङ्गा-किनारे का-सा ढाँचा वह न बना सकेगा। नहीं, नहीं, क्यों धोके में है तू। बड़ा आया 'फ़िलासफ़र।'

छेनी रख दी, सोचा—हवा जब चली, तब हल्की-हल्की रेत उनको ढक लेती थी। आगे वह नग्न ही रह जाते थे। और वह दाँत बन्द किये क्यों रहा। दाँत खुले होते तो ठीक रहता। हँस पड़ा। ख़याल आया—हवा ज़ोर से चल पड़ी थी। उसने अपनी आँखें मूँद ली थीं। आँखों की रेत से हिफ़ाज़त की थी। वह बचा पानी का खेल बना था।

उठती लहर उसे किनारे रेत पर पटक देती। दूसरी बढ़ती—उसे अपने में बहा ले जाती। वह कैसा खेल था। न ठण्ड, न हवा का डर, न उड़ती रेत की फ़िक्र। न रात, न दिन, न सुबह, साँझ ही। क्या, क्या........?

नहीं, नहीं, नहीं। वह जगह ठीक नहीं। बारीक छेनी ठीक चलेगी। चली—छन, छन, छन। उधर यह मोड़। यह उठा ठीक नहीं लगता। बेडौल-सा बेकार यहाँ पर....।

पत्थर की बनी........।

बचा मांस का पुतला—पत्थर से बाहर, भावना-हीन, यह भी ग़लत। वह बड़े-बड़े पत्थरों पर पड़ी हड्डियाँ।

छेनी को चलना था। ढाल ठीक नहीं। बनावट और वह फिर........।

शिल्पी ज्यादह उलझा था। जैसे वह असफल होगा। सफलता को नदी के किनारे के ढाँचों से तोलता, समझा उसकी हार है। उन ढाँचों में जो तत्त्व है, वह मूर्ति में नहीं। यह सिर्फ़ ख़याल ही है और वह मूर्ति। तोलने की हिम्मत चूकने लगी। उसने सोचा, वह मूर्ति मिटा डालेगा। उसमें कुछ नहीं। उससे नहीं बनती। आगे वह क्या करे। उड़ा लें लोग उसकी खिल्लियाँ। वह किसी से वास्ता नहीं रखेगा, किसी की ज़रूरत उसे नहीं। न गया क्लब, रहा अपने ही घर पड़ा। क्लबवालों से पीछा छुड़ाते कितनी देर लगेगी। चार दिन का बखेड़ा... ! निश्चिन्त हो वह सोया

रहेगा। न बनावेगा मूर्ति, न होगी तारीफ़। इस सबसे उसे ख़ास उत्साह नहीं।

सोचता रहता—बना लें जो बनाना चाहें। अधूरी रहेगी, वह उतना ही सौंप देगा। इसी पर गहरी छेनी चला, गड्ढे बनावेगा और बस। स्थायी कुछ यह नहीं। उन लोगों के कहने को अपनी सनक में बहा कहना है—लो समाज के लोगो, तुम्हारा हुक्म तामील किया। तुम्हारी बात ठुकराने की उतनी हिम्मत मुझमें न थी, जितनी उन हड्डियों और बच्चे को। तुम और वह, एक हो; फिर भी तुममें अपने को पाकर, तुम्हारा साथ नहीं छोड़ सकता। तुम जो चाहो, मान्य है। आज तुम्हारे क़ानून मुझ पर लागू हैं! उनसे भाग जाने की फ़िक्र मुझे नहीं। उनसे छुटकारा नहीं चाहता।

छेनी चली, चलती रही। विचार आये—उस बच्चे को सिरहाने लगा सो सकता, तब........

नींद आ गयी। थकान में सो गया।

सन्ध्या को क्लब में अब शिल्पी और चित्रकार की चर्चा चलने लगी। हरएक यह जान लेने को उत्सुक था कि वे लोग क्या कर रहे हैं। पता कुछ न लगता। मनोहर से पूछ-ताछ करना कोई उचित न समझता। क्लबवालों ने तय किया कि जिस दिन दोनों अपनी-अपनी

चीज़ पेश करेंगे, उस दिन एक बड़ा भोज हो। सब तैयारियाँ चल रही थीं।

डेढ़ महीने बाद—

चित्रकार रात-भर सोया न था। अपने चित्र में ही लीन रहा। चित्र को कभी ब्रुश से साफ़ करता, तो इधर-उधर से देखता। अब उसमें भावना आ रही थी, ख़याल जम रहा था। वह ख़ुश था, कहीं कुछ कमी न थी। चित्र की बातें अपने आप आगे बढ़तीं। वह तो ज़रा छू-भर लेता था। छूता और अज्ञेय ख़ुशी होती। वह देखता, चित्र सजीव लगता है। सजीवता को गौण न मान वह चुप रह जाता। सोचता, ऐसा ही चित्र वहाँ के उपयुक्त था। कभी-कभी तो वह ख़ुद ही अपनी पीठ ठोकता। एक बार चली कूची ठीक रङ्ग बिछाती। दूसरी बार छू लेने की गुञ्जायश न थी। अब वह चित्र के आगे खड़ा हो उसे जाँचा करता। कई बार चित्र से दूर खड़ा हो, उसे ख़ूब बारीक नज़र से देखता। हर पहलू से विचार करता। उसे लगता, चित्र बिलकुल मौलिक है, नयी सूझ है। लोग देखेंगे, कमला देखेगी, लूसी देखेगी, सब देखेंगे। सोचेंगे, ठीक तो है। कभी लगता, वह धोके में है, चित्र चित्र नहीं, सच्ची घटना, सच्चा दृश्य आँखों के आगे खेल रहा है। वह पास आता, कैनवास को उँगलियों से छूकर मन में थाह पाता

कि वह उसी का चित्र है। उसी की कला का नमूना है।

सोचता फिर, कमला कहती थी, "क्या मैं चित्र पहले देख लेने का दावा नहीं कर सकती।"

उसका जवाब था, "तुम्हारी भावना ही चित्र है। तुम यदि हमेशा साथ न होती, तो भला मैं चित्र बना सकता! तुम क्या नहीं जानती, कलाकार कभी अधूरा नमूना पेश करना नहीं चाहता। अभी चित्र में बहुत कमी है। वैसे तुमको अधिकार है, पूरा होने से पहले देख लो।"

"क्या सच वह सुन्दर चित्र है?"

"कमला यह भी पूछ लोगी?"

"अच्छा बतलाओ न उसमें क्या है।"

"क्या है.... आगे क्या होगा, मैं खुद नहीं जानता। मैं तो रङ्ग भरता हूँ। आगे की नहीं सोचता। मन की बात वह.........और तुम क्या सब नहीं जानती?"

"क्या चित्र मुझसे भी सुन्दर होगा?" कमला हँस पड़ी थी।

कैसा सवाल था यह। चित्रकार जवाब न दे सका। कहा फिर, "कमला क्या सब पूछ लोगी....?"

कमला देखकर कि चित्रकार उसे टकटकी लगाये देख रहा है—चुप रही।

कमला चित्रकार की 'फैन्सी' है। चित्रकार जानता है। दुनिया की इतनी ढेर-सी युवतियों को कमला अपने से

ढक लेती है। कमला को वह 'एक' गिनता है। एक, इकाई। 'दो' की उसे चाहना नहीं, भूख नहीं।

और चित्र पर कमला के कई पोज होते। जब वह हँसती है, निचले पतले ओठ। कमला के क्लिप से गुँथे बाल। उस दिन भागती कमला........

ठीक बरसात के दिन........

पानी बरस रहा था। वह कमला के साथ घूमने निकला था कि पानी आ गया। कमला और वह पेड़ के नीचे खड़े थे। पेड़ से पानी टपकने लगा। उसने कमला का हाथ अपने में ले कहा था, "कमला, ऐसी छाँह हमें हमेशा मिले। हम ऐसे ही साथ रहें। सारी दुनिया की फ़िक्र हमें न हो।"

कमला हाथ छुड़ाकर भाग गयी थी—भीगती-भीगती। वह चिल्लाया, "कमला, भीगो मत।" देखा था, कमला को लथपथ भीगी जाते।

ज़रा पानी थमा। कमला जा रही थी। वह नज़दीक पहुँचा, देखा—पानी टपकाते खुले लम्बे बालों को कमला फैलाये छुपी थी। कमला बोली, "पानी से तुम डर गये। मुझे देखो!"

"तुम........कमला........!" वह अवाक्-सा उसे देखता बोला। कुछ समझ में नहीं आया।

कमला ने उसका हाथ अपने में ले हँसते हुए कहा, "मैं कुछ नहीं, तुम्हारी कमला हूँ।"

सुघरा हाथ 'कैनवास' पर सब कुछ बखेर देना चाहता था। वह चाहता था, कमला की याद ही साथ देती रहे।

अनजाने उसे नींद आ गयी। सुबह जब उठा, दिन चढ़ आया था। एक हफ़्ते से वह कमला के यहाँ न गया था।

कमला के यहाँ पहुँचा। कमला की छोटी बहन बोली—"जीजी पन्द्रह दिनों को बाहर गयी है।" एक चिट्ठी दे गयी थी। उसने पढ़ा।

"मैं बाहर जा रही हूँ। न जाने क्यों तुम्हारे नये चित्र को देख लेने को रोज़ मन तड़पता है। मैं नहीं चाहती कि उसे बिना पूरा हुए देख लूँ। तुम ठीक बनाना। मैं ठीक दिन तुमसे मिलूँगी और दुनिया का सबसे बड़ा तोहफ़ा तुमको सौंपूँगी।"

वह लौटा और चित्र के आगे स्टूल लगा बैठ गया।

शिल्पी :

शिल्पी बड़ी सुबह उठा। बाहर निकला। एक मैली-कुचैली गली के पास रुक गया। देखा—छोटे-छोटे बच्चों को धूल में खेलते। आगे देखीं—छोटी-छोटी झोपड़ियाँ। बड़ी देर तक, नज़दीक की पुलिया पर बैठा वह उस मुहल्ले पर सोचता रहा। देखता रहा। समझा, उन लोगों से उसे श्रद्धा है। देखा, मज़दूरों को काम पर जाते। चाहा, उनमें मिल जावे। इरादा किया कि मूर्ति को निपटा वह वहीं

आकर रहेगा। कुछ गढ़ना अब उसे उचित नहीं। गढ़ी मूर्ति मन बहलाने का साधन-मात्र है।

धीरे-धीरे वह पुलिया से आगे की ओर बढ़ा और पहाड़ी की घाटी पार की। सुनी बात याद आयी—उसी घाटी में मरे बच्चे सुलाये जाते हैं। गड्ढा खोदा जाता है, गद्देली बिछायी जाती है और........।

एकाएक वह चौंक उठा, उसे लगा कि सामने एक बच्चा ज़मीन से उठा और दौड़कर कहीं ओझल हो गया। फिर उसने बच्चों के रोने की आवाज़ सुनी। पीछे फिरकर देखा, कुछ न था। वह भाग जाना चाहता था। सामने देखा : बच्चे को दोनों हाथों से सँभारे, सँवारे, सफ़ेद कपड़े से ढके एक काफ़िला चला आ रहा है। गड्ढा खोदा, बच्चे को........? वे चले गये।

कुछ देर बाद वह उठा। उसी जगह पर आया, पोली मिट्टी की मुट्ठियाँ उठायीं, हँस पड़ा।

रात्रि को जब मूर्ति पर छेनी चलायी, सोचा—हाथ में बच्चे को उठाये वह....!

चाहा, अपनी मूर्ति को नष्ट कर दे। दौड़कर बच्चे को खोद लावे। उसे टाँग दे। लोग देख लें, देखें........।

छेनी फ़िज़ूल, हथौड़ी, पत्थर का टुकड़ा........। इनके साथ जीवन का गहरा सम्बन्ध नहीं। यह सब तत्त्वहीन लगा। एक बखेड़ा....

हथौड़ी चली। आज उसे ख़याल आया, कुछ दिन और बाक़ी हैं। सामने कैलेण्डर की तारीख़ देखी। वह इसके बाद शहर छोड़ देगा। कहीं एकान्त में रहेगा। सभ्यता जीवन का नाश कर रही है। इस बन्धन में वह ज़रा भी साँस न लेगा। चला जावेगा, वहीं, जहाँ वही रहेगा........

छेनी से यह आख़िरी सम्बन्ध उसे लगा। छेनी चली....। इधर-उधर बिखरी कनें ...। आसपास पड़े बेडौल पत्थर। और कुछ नहीं। वह और उसकी मूर्ति। मूर्ति से कहीं उसे मोह न हो उठे। मोह ने क्या आज तक उसे बाँधा। मूर्ति क्रिया की फल-मात्र रही। अपने से अलग उसे लगी।

चुपचाप वह छेनी चलाता रहा।

एक सप्ताह तक शिल्पी और चित्रकार कोई भी न देख पड़ा।

आख़िर वह दिन आ पहुँचा। लोग चित्रकार के कमरे में पहुँचे। देखा:—

एक बड़े कैनवास पर चित्र था। दूर जङ्गल का। बूढ़ा अकेला ज़मीन पर लेटा मौत की आख़िरी घड़ी के इन्तज़ार में था। उसकी धुँधली आँखें सामने बड़े पीपल के पेड़ की ओर लगी थीं। वहाँ गिद्ध और कौवे उसकी मौत की बाट जोह रहे थे। पीछे झाड़ियों से एक शृगाल उसे घूर रहा था।

चित्रकार ने उसके नीचे मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था—जीवन।

पास की मेज़ पर चन्द लाइनों की एक चिट थी :

'कमला, मेरा चित्र पूरा हो गया। साथ ही मेरी कला निपट गई। जो पाना था पाया। अब दूर चला जा रहा हूँ।'

सब चुप रह गए।

शिल्पी के कमरे में जाकर देखा :

सामने एक नग्न युवती की मूर्ति थी। एक-एक अङ्ग सुन्दर गढ़े। युवती के होंठों पर मुसकान थी।

नीचे खुदा था—मृत्यु।

लोगों ने आगे देखा—शिल्पी मुँह के बल नीचे पड़ा था। उसकी नाक और मुँह पर ख़ून जमा था। वह मरे बच्चे की लाश को छाती से चिपकाये निर्जीव सोया था।

आज भी क्लब में चित्र और मूर्ति टँगे हैं। पाठक जब चाहें, देख सकते हैं।

मौंचू और मीला

मीला गँडेरी के छोटे-छोटे टुकड़ों से भरी तस्तरी लिए आई।

मौंचू अख़बार पढ़ रहा था।

मीला आई और चुपचाप खड़ी हो गई। कुछ बोली नहीं।

मौंचू बिल्कुल बेख़बर बैठा था।

मीला ने मौंचू को देखा, देखकर कुछ सोचा, चाहा कि कुछ बोले। फिर अपने में ही शरमाती, चुपचाप आगे बढ़ी और तस्तरी मेज़ पर रख दी।

आहट पा, मौंचू ने मीला को देखा। आँखें कुछ देर मीला पर टिकी रह गईं। देखी तस्तरी और उस पर फैली गन्ने की छोटी-छोटी टुकड़ियाँ। सटपटाकर बोला, "अभी अभी तो फल खाए हैं। खाना, फल, और... ....। मुझे भूख नहीं है।"

मीला मुरझा गई। सारा उत्साह इस अवहेलना में खो

गया। चुप रहकर मन ही मन सोचा—यह क्या ! समस्त आशा चूक गई। गँडेरी बनाते-बनाते उँगली जहाँ कटी थी, वह दुखने लगी। दुःखी और उसकी पीड़ा से तिलमिला, वह आगे बढ़ बोली, "ज़रूरत नहीं है तो अहसान क्या ? व्यर्थ खाना ठीक नहीं होगा।" मन्थर गति से बाहर चली गई।

यह सब भी मौंचू को उलझाने काफ़ी न था। लेकिन अब उसे लगा कि मीला कुछ तकरार सी बढ़ा गई है। यह पहली ही थी। मीला तो चली गई। यह नाराज़ी कैसी ! अपने पेट का ख़याल उसे है या मीला को !

अख़बार उसने मेज़ पर रख दिया और चुपचाप इज़ीचियर पर लेटा ही रहा। सोचा : एक-दो टुकड़े खा ही लेता। अब तो सारी बात बड़ी जल्दी में हो गई थी, कि मौक़ा ही नहीं मिला। और मीला चली ही गई थी।

मीला को जाना था, चली गई। वह तो गई, पर मौंचू को उलझा कर। शायद मौंचू को कुछ सोचने छोड़ गई थी। वह ग़लत ही सही, फिर भी मीला रुक सकती थी। इतनी बात कुछ ज्यादा नहीं थी। उसने सामने टँगे कैलेंडर की एक-एक तारीख़ देखी। दीवालों पर टँगे 'आयल-पेंटिंग' पर आँखें डालीं। बड़ी देर तक कुछ सोचता ही रह गया। अब मेज़ पर बिछे हुए 'टेबुल-क्लाथ' को देखा। उस पर

कुछ कढ़ा हुआ था। इसी पर पिछले साल मीला ने इनाम पाया था। किस उत्साह से उसने वह बात कही थी।

गोया मीला का बुना हुआ टेबुल-क्लाथ ही मनबुझाव करने अब बाक़ी था। किसी और बात की जगह तब वहाँ नहीं थी। मीला 'अहसान' के भारी बाट सौंपकर चली गई थी। जैसे कि वह अब उन सुफ़ेद-सुफ़ेद गँडेरियों से पैदा होकर उसे डस रहा हो।

और मीला........।

वह सोचती है, मौंचू उसकी भावना नहीं पहचानता है। बार-बार बातों का ऐसा कोरा उत्तर देता है, जैसे कि कुछ और कहने की सामर्थ्य न हो। कुछ सही। मीला मौंचू के नज़दीक आती ही क्यों है। न आना ही उसका ठीक होगा। आती है तो क्या नहीं जानती कि मौंचू बड़ा रूखा जीव है। जो मन में आया कह देता है। ठीक-ठीक कहना नहीं जानता। कब सीखेगा वह। फिर भी........।

मौंचू मीला के घर आया है। आज नई जान-पहचान नहीं। पहिले एक बार वह मीला को ज़रा दूर से, उसकी बुआ के घर देख चुका है। देखा भर था मीला को। कुछ समझ और पहचान लेने का सवाल नहीं उठा था। जब मीला चली गई थी, तब लगा था कि उस घर और पड़ोस की लड़कियों में मीला का व्यक्तित्व उसे ख़ूब भाया था। तब बार-बार मीला की याद आई थी। उस मीला को पास से देख

लेने के लिए दिल तड़पा था। जितना ही वह भुलाना चाहता, उतना ही वह उसे ठगती, आँखमिचोनी खेलती, उसके मन के किसी कोने में जगह पा, पसरने लगी थी।

मीला के बुआ का घर उसके लिए नया कहाँ था! वह मीला की बुआ थी तो उसकी भी दूर रिश्ते की बुआ लगती थी। लेकिन वह वहाँ बीमार क्यों पड़ा था। मीला एकाएक अनजाने वहाँ खुद ही पहुँच गई थी। मलेरिया टूटने पर जब वह ज़रा अच्छा हुआ, तो घर भर की लड़कियों ने बुआ को घेर लिया था—वायलिन सुनवाने के लिए।

और बुआ आकर बोली, "मौंचू सुना दे न। सब मेरा सिर खाए हैं।"

मौंचू सा झेंपू क्या 'वायलिन' सुना सकने की हिम्मत रखता था।

कुछ जवाब न पा बुआ फिर बोली, "इसमें शरम की क्या बात? वे कोई बाहर की थोड़े ही हैं। और मीला कोई हमेशा थोड़े ही आवेगी।"

मौंचू ने बात मंज़ूर की, कहा था, "रात दस बजे के बाद वह सुनावेगा।"

बात कहने को कह दी। याद उसे वह सब नहीं रहा। वह तो चुपचाप सो भी गया। पर मीला जगी ही रही। इसी उम्मेद पर कि वह वायलिन सुनेगी। दस, ग्यारह,

बारह बजे के बाद जब उसने मौंचू के कमरे में झाँका, उसे ख़र्राटे भरते पाकर, मनमार सो गई।

लेकिन वायलिन न सुन सकने की बात वह भूल नहीं सकी। अगले दिन घर के छोटे लड़के की आड़ ले बोली थी, "कोई रात भर जागे, कोई मज़े में सोया रहे। ख़ूब रही। वायलिन सुनकर तो पेट भर गया।"

मौंचू फिर भी मज़ाक़ से बाहर चुप ही रहा। जवाब की व्यवस्था उसने लागू नहीं होने दी। मज़ाक़ से भला उसका क्या सम्बन्ध था कि वह उससे वास्ता रख ले। वह तो वायलिन सुनाना न चाह कर, टालने के लिए, बहाना बना सो गया था। बात निभ गई थी।

फिर भी घर की लड़कियाँ मानी नहीं। एक दिन मौंचू पकड़ में आ ही गया। सब दिन को जमा हुए। मौंचू को वायलिन सुनाना पड़ा। वह बजा रहा था। मीला चुपचाप एक कोने में दुबकी बैठी हुई थी। जब कभी मौंचू उधर देखता, तो मीला की आँखों की पुतलियाँ फैली और खाली मिलतीं। लाज से आँखें झुक नहीं पड़ती थीं। अपने से जैसे कि वह लाज नहीं करेंगी। मौंचू बात नहीं समझा। वह अपने भीतर शर्म से सिकुड़ गया। मन भारी हो आया। वायलिन न बजा सका। बस चुपचाप वायलिन रखकर, बाग़ की ओर निकल पड़ा। सब लड़कियाँ अवाक् रह गयीं।

अब सवाल उठा उसे बुला लाने का। मीला को यह भार सौंपा गया। मीला मना करेगी, यह सभी को विश्वास था। लेकिन मीला उठी। बाहर बाग़ की ओर देखा : मौंचू चुपचाप 'लाउन' पर फैली घास पर बैठा है। वह पास जाकर बोली, "आपको बुलाया है।"

"मुझे !" मौंचू ने ग़ौर से मीला को देखा। जैसे कि बुलानेवाले को पहचान कर भी, वह निरा अनजान ही रहेगा।

दबे स्वर में मीला बोली, "बीच में ही क्या कोई बजाना छोड़कर इस तरह भाग आता है।"

मौंचू के मन में बात उठी कि वह मीला से कुछ कहेगा। वह कुछ कहना चाहता है। वह उठा, उठकर चलने को ही था कि एकाएक रुक गया। बोला, "मेरी तबीयत ठीक नहीं है।"

"आप झूठ बोल रहे हैं।" मीला बोली।

"झूठ !" बात समझ में मौंचू के नहीं आई।

"देखिए बहाना न बनाइए।"

"ब—हा—ना !!"

"मुझे भी क्या शर्मिन्दगी उठानी पड़ेगी कि आपको नहीं ले जा सकी।"

"आप मुझे ग़लत समझ रही हैं।"

"ग़लत ही सही, पर आप चलिए। मैं और कुछ नहीं जानती हूँ।"

मौंचू निरुत्तर रह गया। यह मीला का पहला अनुरोध था। आज तक कब उसने कोई बात कही थी। ऐसा हुक्म वह दे सकती है, यह अन्दाज़ नहीं था। इसे वह ज़ोर-ज़बरदस्ती गिने या कुछ और? वह स्वीकार क्या करे। फिर जाकर वह 'उपहास का जीव' बनेगा। उन लड़कियों का मज़ाक़ सुन और सह लेने की शक्ति भी उसमें नहीं है। वह आखिर बोला ही, "आप मुझे माफ़ कर दें। व मेरी बात का ख्याल भी न कीजिएगा। किसी और दिन सुनाऊँगा। आज मेरा मन ठीक नहीं है। अपने से झगड़ना अन्यथा मैं नहीं चाहता। बुरा भी आप न मान लेना।"

मीला फिर भी जानती थी कि उसकी हँसी उड़ेगी। जिस बात की अवहेलना हो रही है, उसी की ज़िम्मेदारी वह स्वीकार कर चुकी है। वह अपनी हमजोलियों के आगे क्या जवाब देगी। यह अनुचित लाचारी है। मौंचू से वह क्या कहे। एक अजीब उलझन मन में उमड़ रही थी। यह मौंचू तो ऐसा व्यक्ति है कि अपने आगे दुनिया का कोई भी ख्याल नहीं रखता है। जैसे कि वही बहुत बड़ा हो। या अपनी बात रख लेने से उसे कुछ मिल जावेगा। वह संकुचित हो, बोली, "चले चलने में कुछ ख़ास बात भी तो नहीं दीख पड़ती।"

"और चलकर वहाँ से हीरे-जवाहरात भी तो बटोरकर नहीं ला सकूँगा।"

उत्तर भले ही सीधा हो, पर वक्त का नहीं था। मीला को अब और कुछ भी नहीं कहना था। अपना एक आत्म-सम्मान आगे आया। ख़ुद ही निर्णय कर आगे अधिक अनुरोध अब वह नहीं करेगी। चुपचाप लौट आई। कुछ देर बाद मौंचू के आगे से ओझल हो गई।

इस घटना के बाद दूसरे ही दिन मीला चली गई थी। मौंचू ने तभी से अपने में ही कुढ़ना शुरू कर दिया था। और आगे सब दिन उदासी से कटने लगे थे। उन दिनों, जो सात-आठ दिन वह वहाँ रहा, लड़कियों के गिरोह में छुपी हुई मीला को वह ढूँढ़ लेना चाहता था। यही समझ-कर कि शायद मीला वहीं कहीं खड़ी है। लेकिन वह वहाँ मिलती नहीं थी।

मीला ने घर पहुँचते ही एक चिट्ठी बुआ को भेजी थी, और इतनी सीधी-साधी भाषा में लिखी थी कि जब बुआ ने घर भर को वह पत्र सुनाया, तब मौंचू ने सुनकर भी ऐसा भाव प्रकट किया कि जैसे कुछ न सुन रहा हो।

वैसे मीला, रोज़, हर वक्त अपनी आहट, झलक, एक अपना ख्याल, उसे सौंप जाती थी। मौली सोचता, क्या यही अब मीला का 'कर्तव्य' है। या वह अपने मन का झूठा घमंड बाहर फैलाकर परेशान हो जाता है। गुस्सा होकर गई मीला को क्या कभी वह मना बुझाकर लौटाल

भी सकेगा। वह उससे क्या कहेगा। सारी व्यवस्था सुधर सकती ?

—घटना उभर-उभर आती हैं। और अब आज—वह उसी मीला के घर में तो आया है, फिर एक और झगड़ा बढ़ाकर, मीला भाग गई है। वह पिछली बात !

मीला की छोटी बहिन ने कब कमरे में आकर ग्रामोफोन पर रिकार्ड चढ़ाया, वह न जान सका। एकाएक 'आरकेष्ट्रा' की गूँज उसने सुनी। वह भी उसी में बह गया। वह उस अवसर पर उचित साधन मन बहलाने का लगा।

कि मीला कमरे में आई। ग्रामोफोन से रिकार्ड उठाकर खिड़की से बाहर फेंक दिया। फिर छोटी बहिन का कान पकड़, बाहर घसीटकर ले जाती हुई बोली, "कुछ काम नहीं। ले अब बजा। चल किताब पढ़ ?" कमरे से बाहर चली गई।

वैसे गुस्सा होना स्वयं ग़लत नहीं, यदि वह वास्तव हो। पर दूसरे को मौक़ा देना कि गुस्से की परिभाषा समझ लो—यह बात उसे उलझाने लगी। मीला में गुस्सा कब उसने सही-सही पाया है। उसका चेहरा तो वैसा ही शान्त था। मानो वह साधारण जीवन-नाट्य का एक पहलू मात्र चित्रण कर रही हो। मौंचू अब क्या समझना चाहता था। वह स्वयं नहीं जानता। मीला के पिता अक्सर लिखते

थे, इधर से भी कभी जाया करो। हमारा देहात बुरा नहीं है। और वह आया था, उसी देहात की आड़ बनाकर, अपनी मीला को देखने।

जीवन, एक साधारण सुपना ही वह सब कारोबार होता, ठीक बात थी। लेकिन अकसर 'मेडीकल-कालेज़' में मुरदे के अंगों की चीर-फाड़ करते-करते, आत्मा करती थी—छी-छी-छी! वह फिर भी अपने से घृणा नहीं करता था। रोज़ाना-जीवन में वह ठीक नहीं होती है। फिर मीला को देख लेने के बाद आत्मा में एक ज्योति जगमगा उठी थी। और वह एक अलावा दृष्टिकोण से मुरदों को चीर-फाड़ कर देखता था। मानो वह एक बड़ा दार्शनिक हो। और अपने उस दायरे में समूची 'मीला' को रोक रखने की ताक़त उसमें हो। 'छोटी-छोटी' नसों, शरीर के अंग-अंग पर चाक़ू चलाना, सारे काम में एक उत्साह आ गया था। जैसे कोई अज्ञेय ही चुपके कान में कहता हो—यह तो एक कर्तव्य है तुम्हारा।

तब भी एक दिन वह ज़रूर उद्विग्न हो उठा था। एक युवती के शरीर पर उसे तेज़ औज़ार चलाने पड़े थे। वह तो उसी दिन एक डिलीवरी केस में मर गई थी। टेबुल पर सुफ़ेद चादर से वह ढकी हुई थी। उसने चादर उठाई तो चेहरा देखकर काँप उठा। स्तब्ध वह कुछ देर खड़ा का खड़ा उसे देखता ही रह गया। अधमुँदी पलकें, उलझी हुई काली

लटें, सुफ़ेद पड़ा चेहरा और उस पर चार-पाँच शीतला के दाग़। उसने उसे चादर से ढक लिया था, जैसे कि हिम्मत हार गया हो।

आखिर औज़ार चले। मीला की याद आयी। जैसे कि उस युवती ने सारी नारी जाति की याद दिला दी हो। याद करने के लिये मीला के अलावा प्राकृतिक नारी उसके पास और कौन थी।

हाथ रुक गया था, सोचकर, मीला को वायलिन क्यों नहीं सुनाया। वह क्या सोचती होगी। मीला भली लड़की है। कितना कम बोलती है। चुप रहती है। ग़ुस्सा भी हो जाती है।

क़ैंची शरीर पर चली। उस निर्जीव नारी पर उसकी अपार श्रद्धा फैल गई। जैसे कि वह भी अपनी ही हो। सगी। वह भी कहती लगी—मुझे ही मीला समझ लो।

नहीं—नहीं—नहीं—उसने उस स्त्री का मुँह ढ़क लिया था। फिर मरा बच्चा निकला। एक से, दो निर्जीव हो गए।

काम ख़त्म हो जाने पर वह और दिनों की तरह निश्चिंत नहीं सो सका। बार-बार मीला की याद आती थी। वह कहती लगती—वायलिन सुना दो।

आधी रात तक जब नींद नहीं आई, तो उसने वायलिन

निकाला और बजाने लगा। बजाते-बजाते उसकी आँखें सामने दीवाल पर टँगे निरे हड्डियों के चार्ट पर पड़ी। वह मुस्कुराता लगा। उसकी हड्डियाँ भी एक दूसरे से टकराकर बजती लगीं—टुन, टुन, टुन।

वायलिन के तार टूट गए। वह पसीने में डूब गया। डरकर फिर रात भर सो नहीं सका।

लगा वह हड्डियोंवाला चार्ट पुकारता—ओ' मीला ! ओ' मीला !! फिर—फिर—मौंचू पागल है—पागल है ! बबा सुन्दर था—सुन्दर था !!

ऐसी थी मीला जो पहली देखादेखी में ही मौंचू पर एक गहरा प्रभाव छोड़ गई थी। मेडीकल-कालेज़ का सारा वातावरण—पट्टियाँ, मुर्दे की चीर-फाड़, दवा की गंध और अलग-अलग मनुष्य चित्रों की निर्जीवता में हृदय को भारी किए मीला बार-बार सुझाती—ठीक तो है।

बड़ी-बड़ी पोथियों के ढाँचेवाले चित्र, अङ्ग-अङ्ग का विवरण, सब सुझाते थे—यही है मनुष्य मौंचू।

झूठ-झूठ-झूठ—! जैसे कि मीला अपनी गुलाबी साड़ी पहिने सजी, सच्चे मोतियों की माला झुलाती कहती-कहती ओझल हो जाती।

'प्रिसक्रिपशन' लिखते-लिखते कभी-कभी हाथ रुक जाता, तब याद आती बुआ के नाम आई चिट्ठी में लिखे अक्षरों की बनावट। जैसी कि वही भाषा अब वह दवा के नामों

के साथ जोड़, रोगी की परवाह के साथ-साथ मीला को भी याद कर लेता हो।

मौंचू को अब लगा था कि मीला उसे चाहिए। उसकी बातें ठुकराने की चाहना उसे नहीं। दो-तीन दिन साथ-साथ रहने पर ही वह उसे सही तौर पर पहचान गया था। वह अन्यथा मीला से ही क्यों झगड़ा था। वह सारी बातें और वातावरण तोल कर पाता कि मीला उसे चाहिए। वह उसी की है।

मीला का छोटा भाई आया था, पूछा "घूमने नहीं चलिएगा।"

"घूमने।" मौंचू ने दुहराया। ज़रा सँभलकर पूँछा, "तेरी जीजी कहाँ है ?"

"वह तो घूमने चली गई।"

बस मौंचू ने कपड़े पहिने और बच्चे के साथ बाहर निकला। छोटे-छोटे खेतों को पार करने के बाद, एक खेत की मेंड पर बैठकर, मटर की फलियाँ खाने लग गया।

मीला ने मौंचू को देख लिया था। दोनों के बीच ईख का ऐसा घना खेत था कि पास-पास होने पर भी वह मौंचू के नज़र की पकड़ में नहीं आ सकती थी।

अब मौंचू ने बच्चे के मुँह का बाजा ले लिया और बजाने लग गया। बचपन भले ही धोखा दे गया था, वह

फिर भी अपने लिए, दुनिया के लिए, एक बार बच्चा बन गया। बड़ी देर तक बजाता ही रहा। उधर मटर की बड़ी-बड़ी फलियों की ढूँढ़ करते-करते बच्चे ने जीजी को पकड़ लिया और चिल्लाया "जीजी ! जीजी !!"

मौंचू ने नहीं सुना। वह बाजा बजाने में ही मस्त था। बच्चा दौड़ा-दौड़ा उसके पास आया और झकोरते हुए बोला, "जीजी वहाँ बैठी है, चलो।"

जब तक मौंचू वहाँ पहुँचा, मीला खेत में ईख के बीच न जाने कहाँ छुप गई थी। हताश मौंचू ने फिर बैठकर बाजा बजाना शुरू कर दिया। बच्चा खेतों-खेतों में अपनी जीजी को ढूँढ़ता हुआ घर जा पहुँचा। धीरे-धीरे रात पड़ने लगी। मौंचू वहीं बैठा हुआ था। उसे घर जाने की फ़िक्र नहीं थी। वह मेंड पर बैठा हुआ बाजा बजा रहा था। जैसे कि उसी तरह बजाता-बजाता रहेगा।

मौंचू चौंका, पास ही मेंड पर बहती हुई पानी की नाली में से पानी उछलकर उस पर गिरा। उसने इधर-उधर देखा, कोई भी नहीं था। अपने कपड़ों को झाड़कर, वह फिर बाजा बजाने लगा।

दूसरा ढेला पानी में गिरा। पानी से फिर उसके कपड़े भीज गए। उसने इधर-उधर ताका और चुपचाप बैठ गया।

फिर पानी उछला। मौंचू ने अब पुकारा "मीला।"

कोई जवाब न पा, बाजा एक ओर रख, चुपचाप बैठा रहा। सामने देखा, सच ही मीला चली जा रही थी। तब फिर मौंचू ने बाजा उठा लिया और बजाने लग गया।

सुफ़ेद खिली चाँदनी में मीला जा रही थी, बाजा बजाते-बजाते मौंचू सब कुछ देख रहा था।

कुछ आगे बढ़कर मीला रुक गई। मुड़कर देखा, और खड़ी हो गई। मौंचू तो अब भी बैठा ही रहा। लेकिन मीला तो खड़ी थी।

दूर मीला उस खिली चाँदनी में एक छाया-सी लगती रही। स्पष्ट फिर भी नहीं थी। लगता कि जैसे सुफ़ेद 'कैनवस' पर काली-काली लकीरें खींचकर एक सुन्दर और पूर्ण चित्र किसी ने बनाया हो।

मौंचू तो उठा ही नहीं। बड़ी देर हो गई थी। उसने फिर देखा मीला की छाया उसकी ओर सरकती आ रही है। और वह तो उसके पास पहुँचकर बोली, "क्या रात यहीं काट लेने की ठहराई है?"

"क्या हर्ज है मीला।"

मीला जानती थी कि वह अर्थहीन बात है। सच कहाँ था। चुप इसीलिए रही।

कुछ देर बाद मौंचू बोला, "मीला।"

मीला ने मौंचू को देखा। आँखें ऊपर उठीं और मौंचू

की आँखों में समा गईं । आज भी मौंचू से उसे कोई लाज नहीं, शरम नहीं । वह ग़ैर थोड़े हो है ।

"मीला तू गुस्सा है ।"

मीला गुस्सा हो—हो, मौंचू से मतलब । तुनककर बोली, "क्या बिगड़ता है भला आपका ।"

"मीला !"

"क्या ?"

"ज़िन्दगी एक कल्पना नहीं । जो अप्रिय है, वही सत्य है ।"

"कल्पना और सत्य । यह अपनी 'डायरी' में लिख लीजिएगा । अब तो शायरी भी शुरू कर दी है । चलो रात हो आई है ।"

"कह दे तू नाराज़ नहीं ।"

"मैं नाराज़ । अपने घर पर आए मेहमान से........।"

"तू ज़रूर गुस्सा है मीला ।"

"नहीं—नहीं ।" मीला धीमे स्वर में बोली, बड़ी रात हो गई है चलो । बस भाग गई ।

मौंचू अवाक् रह गया । पगडंडी पर हरी-हरी घास उगी थी । इधर-उधर खेतों में ईख खड़ी थी । पास बहता पानी का नाला । ऊपर खिली चाँदनी और भागती हुई मीला ।

बड़ी देर तक मौंचू खड़ा का खड़ा ही रह गया ।

सोचता-सोचता, क्या मीला का बचपन कभी नहीं छूटेगा। नारी का बचपन ? क्या मीला रोज़ इसी तरह भागती राह दिखलावेगी। वह विश्वास कैसे कर ले। फिर मीला एक कुतूहल क्यों बखेर जाती है। भाग गई कहकर—आ-आ, मौंचू ! मैं राह बतावूँगी, तू भी चल-चल। तू मेरा मेहमान है और मैं तेरी............।

मीला ! वह मीला के पास क्यों आया। अब क्या चाहता है उससे। मीला उसे क्या दे सकती है। यदि वह और मीला चाहें, तो दुनिया से दूर, अकेले इन खेतों के बीच ही रहकर क्या जीवन का भावी सफ़र पूरा नहीं कर सकते हैं। वह मीला अपने में क्या सोचती होगी। क्यों वह जीवन में उसके इतने नज़दीक आई है।

अब वह मीला के मकान के पास पहुँच गया। दरवाज़े के पास मीला खड़ी मिली। वह बोली, "बड़ी देर लगाई।"

मौंचू को कोई जवाब नहीं सूझा।

"सब लोग आपका इन्तज़ार कर रहे हैं।"

"मेरा !"

"हाँ, यहाँ गाँव के लोग बुद्धुओं को शहर में ले जाकर बेच आते हैं।" कह, हँस पड़ी और अन्दर खिसक गई।

मौंचू ने कपड़े उतारते हुए सोचा कि वह 'बुद्धू' भी है। बहुत पहिले बचपन में 'प्रायमरी' स्कूल में उसे यह पदवी

मिली थी। आज मीला के मुँह से वह सुनकर उसे ख़ुशी हुई।

रात-भर मौंचू गहरी नींद में सोया रहा, जैसे कि जीवन की कोई भारी आकांक्षा पूरी हो गई हो।

सुबह उठा ही था कि देखा, मीला रस का गिलास लिए खड़ी थी। उसने गिलास ले लिया। मीला चली गई। मौंचू ने एक घूँट पीकर मुँह बिचका लिया। बस, गिलास मेज़ पर रख दिया। मीला दरवाज़े की आड़ से सब देखती हुई अन्दर चली गई।

मौंचू ने काँच के पारदर्शी गिलास पर भरे हुए उस हरे-हरे रंग के रस को देखा। उसमें पूरी मिठास थी। वही सब मीला ख़ुद अपने हाथों से पीने के लिए सौंप गई थी। लेकिन वह तो एक घूँट की मिठास तक न सह सका।

मीला का छोटा भाई कमरे में आया। मौंचू ने उसे पुचकारकर पूछा, "दोस्त, चाय-वाय भी मिलेगी।"

बच्चा बोला, "जीजी से पूछता हूँ जाकर। वह तो कहती है, चाय से तन्दुरुस्ती ख़राब होती है। इसीलिए सब शरबत पीते हैं।"

मौंचू हँसते बोला, "आज ही नया क़ानून तो नहीं बना है।"

मीला सिर्फ़ छेड़ने भर के लिए शरबत का गिलास सौंप

गई थी। वह जानती थी कि मौंचू पी सकेगा नहीं। लेकिन मौंचू तो चाहता था कि सब गट-गट कर पी जावें।

कि बच्चे ने सुनाया, "जीजी आजकल अंग्रेज़ी पढ़ती हैं।"

बच्चा देखता था कि मीला आजकल कुछ अजनबी अक्षर 'कापी' पर लिखा करती है। जो उसकी हिन्दी-प्रायमरी में नहीं मिलते। वह अंग्रेज़ी कहलाती है।

मौंचू ने मज़ाक में कहा, "तू झूठ बोल रहा है।"

भला सच बात को कोई कैसे झूठा साबित कर दे। वह बोला, "मैं कापी दिखला सकता हूँ।"

मौंचू फिर बोला, "बिल्कुल झूठ है?"

बच्चा अपने को झूठा साबित करना नहीं चाहता था। वह दौड़कर भीतर पहुँचा और कापी लेने चला गया।

इस बीच मौंचू ने शरबत का गिलास खिड़की से बाहर फेंक दिया। गिलास रख रहा था कि देखा, सामने की खिड़की से मीला देख रही है। वह चुपचाप कुर्सी पर बैठ गया और सिगरेटकेश से सिगरेट निकाल सुलगा ली।

मीला का भाई कापी ले आया था। मौंचू मीला के लिखे अक्षरों की सावधानी से जाँच करने लगा। मीला कब भीतर चली आई, उसे मालूम नहीं हुआ।

मीला बोली, "यह चोरी भी सीख गए।"

मौंचू ने उलझन में मीला को देखा और कहा,

"चोरी ?" मीला ने कापी छीन ली, फिर पूछा, "इसे कौन लाया।"

बच्चा फ़ुरसत पा, कभी का खिसक चुका था।

मौंचू बोला, "मीला तुम तो अच्छा लिख लेती हो।"

मीला ने बात पलटी कहा, "शरबत नहीं पीना था, तो ना कर देते। बहकाने फेंक क्यों दिया।"

"तेरी डर से।"

"मेरी !"

"हाँ, मीला।"

मीला निरुत्तर हो गई। झगड़ने की और गुंजायश नहीं थी।

मौंचू ने मीला के हाथ से कापी छीन ली, कहा, "बैठो।"

मीला पास कुर्सी पर बैठ गई। मौंचू ने कापी खोली और अपनी जेब से फाउन्टेनपेन निकालकर अक्षर दुरुस्त करके समझाने लगा कि ऐसे अक्षर लिखे जाने चाहिए।

मौंचू को कुछ कहना ज़रूरी था। वह चुप कैसे रह सकता। कहना शुरू किया, "मीला अक्षरों से मनुष्य का 'अपनत्व' पता लगता है। उसकी लापरवाही, उसकी दृढ़ता, उसका साहस—लिखे अक्षरों के कोणों से साफ़-साफ़ मालूम होता है।"

मीला को यह सब न समझना था, न वह समझी। और न वह सब कुछ ध्यान से सुन रही थी। यह कैसा

सबक़ था ? वह जैसे अनजान थी। पहली किताब की तरह अनजान। जिसे बच्चा खिलौने की तरह सँवार कर रखता है। पहिले उस पर जिल्द लगाकर हिफ़ाज़त करता है। आगे उसी से लापरवाही से खेलने लगता है। उतनी सावधानी उसके प्रति नहीं बरतता है। समझ कर कि वह ख़ास मूल्यवान् वस्तु नहीं है।

एकाएक मीला उठ बैठी। अपनी गिरी सारी का छोर ठीक तौर से सिर पर सँवारा। कहकर, "चाय ले आऊँ। मैं तो भूल ही गई थी।" चुपचाप चली गई।

मौंचू तो जैसे कि मीला को कभी नहीं समझ सकेगा। यह बात अनजाने उसके मन में उठी। लगा, मीला हमेशा एक पहेली, एक रहस्य ही उसके लिए रह जावेगी। जितना ही वह अपने को मीला के नज़दीक समझता है, उतनी ही मीला उससे दूर लगती है। वह तो मीला को पकड़ नहीं पाता।

दार्शनिक के समान उसने सिगरेटकेश से सिगरेट निकाल, सुलगा ली। उसी के सहारे वह एक नई बात ढूँढ़ने तुल गया जिसे कि वह आज तक नहीं जान सका था। उसी तरह धुएँ के बीच वह गहरी चिन्तन में पड़ गया। आज एक नई ख़ुशी मन में थी। वह कुछ अपने दिल में टटोल रहा था। एक अज्ञात विश्वास के लिए वह अब चिन्तित था। शायद वह उसे पा लेवे............।

मीला ने कमरे में आकर देखा, मेज़ पर सिगरेट सुलग रही थी। साथ-ही-साथ उसका बुना हुआ मेज़पोश भी धुँआ दे रहा था। उसने चाय मेज़ पर रख दी। मौंचू ने अब मेज़पोश देखा। मीला तो खड़ी ही थी। दोनों चुप रहे। कोई कुछ नहीं बोला। मौंचू ने चाय की प्याली उठाई, चाय उँडेली और अनजान बनकर पीने लगा, जैसे कि उस मेज़पोश से उसे कोई वास्ता नहीं हो—न सिगरेट से। वह चाय पीना चाहता था, मिल गई। उसे पीकर अब वह कुछ नहीं सोचेगा। सही तो अब सिर्फ चाय की चुस्कियाँ थीं। वह हर तरह सावधान भी हो गया।

मीला की आँखें तो मेज़पोश पर लगी हुई थीं। वह सोच रही थी, वह लाल-लाल कढ़ा हुआ फूल ही क्यों जला है। वही तो उस पर सजता था। अब मेज़पोश बिल्कुल बेकार-सा है। मन ही मन उसे मौंचू पर गुस्सा आया। कह तो वह कुछ भी नहीं सकती थी। अपने भीतर कुढ़कर रह गई।

अब जाकर मौंचू समझा कि मीला अपने मेज़पोश के लिए दु:खी है। वह बात सुलझाने के लिए बोला, "आगरे अच्छे-अच्छे मेज़पोश मिलते हैं। अब के लौटते हुए कुछ ले आऊँगा।"

मीला कह गई। सुनाया ही, "वे बाज़ारू मेज़पोश आपको ही मुबारक हों।"

फिर मौंचू ने अपना पक्ष लिया, "नए-नए डिज़ाइन के अब तो मार्केट में आ गए हैं।

"अपने लिए खरीद लीजिएगा। हमारे लिए यही अच्छे हैं।" बिना जवाब सुने ही वह चली गई।

कुछ देर बाद घर का नौकर आया और मेज़ पर से मेज़पोश उठा, उस पर बाज़ार का छपा हुआ मेज़पोश बिछाने लगा। मौंचू ने उससे मेज़पोश माँग लिया। उसने एक कोने में अपने दस्तखत छोटे-छोटे सुन्दर अक्षरों में किए।

नौकर के चले जाने पर उसने सुबह का अखबार उठाया और पढ़ने लग गया।

मीला के भाई ने आकर बाजा माँगा। उसे देते हुए पूछा, "तेरी जीजी क्या कर रही है।"

वह बोला, "मेज़पोश पर फूल काढ़ रही हैं।"

मौंचू बोला, "जाकर कहना, बहुत काढ़ने से आँखें फूट जाती हैं।"

बच्चा सवाल लेकर तो गया, पर जवाब कुछ भी नहीं लाया। मीला कुछ बोली ही नहीं थी। तो फिर बच्चे ने अपनी ही बात शुरू कर दी कि वह एक खेत में बड़ी-बड़ी मटर की फलियाँ देखकर आया है, मौंचू चलेगा।

लेकिन मौंचू ने कहा, "अपनी जीजी के साथ जाना। मैं तो साँझ की गाड़ी से चला जाऊँगा।"

मीला ने जब यह सुना, तो वह कुछ बोली नहीं। जानती तो थी वह कि छुट्टी निपट चुकी है। मौंचू जावेगा ही। आज तक उसे यह ध्यान ही नहीं रहा है। आज एकाएक सुनकर चौंक पड़ी।

और उसी संध्या को मौंचू चला गया था।

'फाइनल' की वजह से मौंचू को पढ़ाई से फ़ुरसत ही नहीं मिलती थी। कभी-कभी मीला की चिट्ठी आतीं और वह चार सीधी लाइनों में जवाब दे देता। मीला तो घुमा-फिरा, दुहरा-तिहरा कर न-जाने क्या-क्या लिखती थी। बीच में बार-बार माफ़ी माँग लेना भी उसकी आदत बन गई। कहीं-कहीं पर लाइनें इतनी बुरी तरह कटी होती थीं कि 'माइक्रसकोप' से भी, धब्बों के अलावा छुपे अक्षरों का रहस्य मालूम नहीं हो पाता था।

ज़िन्दगी के दिन तो कट ही जाते हैं। एक-एक दिन बीत भी जाता है। मनुष्य कुछ भी समझ-बूझ थोड़े ही सकता है। महीना निपट जाने पर कैलेंडर का पन्ना फाड़, नए पर आँखें गड़ते देर कितनी लगती है। यही है हमारा कर्तव्य और न्याय। वैसे अपनी मुसीबतों और परेशानियों के अलावा कुछ भी सोचने-समझने का सवाल ही नहीं उठता है। मौंचू और मीला के बीच एक अरसे तक चिट्ठियाँ चलती रहीं, फिर एकाएक मीला के पत्र आने

बन्द हो गए। मौंचू ने इसका कुछ भी ख़याल नहीं किया। आठ महीने बात की बात में कट गए।

उस दिन मौंचू रात को एक मुरदे को चीर-फाड़ करता 'हाल' में अपना सबक़ याद कर रहा था। औज़ार, बार-बार चलता थका नहीं था। यह नई बात थोड़े ही थी। वह चुपचाप खड़ा था कि उसने देखा, मुरदा उठ बैठा और चिल्लाता लगा, "मीला! ओ मीला!!"

मौंचू सन्न रह गया। घबराकर वह दूसरे कमरे में चला गया। वहाँ और साथियों से सब हाल कहा। वे बोले, यह आश्चर्य की बात नहीं है। अक्सर फेफड़ों में हवा भर जाने से मुरदे इसी तरह उठ बैठते हैं।

रात को उसे ठीक तरह नींद नहीं आई। बल्ब उसने बुझाया ही था कि देखा, सामने जो सिर की हड्डियोंवाले ढाँचे का चार्ट है। उसकी आँखें एकाएक चमक उठीं। उसका मुँह खुल गया। वह चिल्लाया "मीला! मीला!!"

वह घबड़ा उठा। उसने साफ़-साफ़ कई प्रतिध्वनियाँ सुनीं। चारों ओर से मीला! मीला!! सब कोई पुकार रहे थे।

उसने बल्ब बाल लिया। और हड्डियों के बने शरीर-वाले चार्ट पर नज़र फेरी। उसकी हाथ की हड्डियाँ बार-बार मीला का नाम लिख रही थीं।

अब वह सँभल गया। उसने आलमारी खोली। अपना

मनीबेग निकाल, ओवरकोट ओढ़ लिया और चुपचाप स्टेशन की ओर रवाना हो गया।

अगली सुबह वह मीला के गाँव उतरा। चुपचाप मीला के घर की ओर बढ़ा। दरवाज़े पर देखा कि मीला के पिता खड़े थे। मौंचू को देखकर अवाक् रह वे बोले, "आपने इत्तिला भी नहीं दी। गाड़ी भिजवा देते।"

अब वह चुपचाप बाहर गोल कमरे में मीला के पिता के साथ बैठा हुआ था कि मीला के छोटे भाई ने आकर अपने पिता से कहा, "जीजी बुला रही है।"

मौंचू की समझ में बात नहीं आई। मीला का पिता तभी बोला, "चलो।"

और मौंचू ने मीला के कमरे में जाकर देखा कि वह पीली, सुफ़ेद बिस्तर पर लेटी हुई थी। मौंचू को देख एका-एक उठी, बोली, "मैं जानती थी कि तुम ज़रूर आओगे।"

थकी-माँदी लेट फिर गई। उसे ग़श आ गया था।

मौंचू यह सब देखने नहीं आया था। यह परिस्थिति उसके जीवन में पहले-पहल आई थी। वह खड़ा सब कुछ देखता ही रह गया।

डॉक्टर ने मीला को देखा। उसकी 'पल्स' टटोली। उसके पिता के कान में कुछ कहा। मौंचू सब और सारी बात समझ गया। वह यह सब सह नहीं सका। चुपचाप बाहर चला आया। जाने की तैयारी में था कि मीला के

भाई ने पुकारा। वह रुक पड़ा। उसने मौंचू के हाथ में एक लिफ़ाफ़ा दिया। बोला वह, "जीजी ने डाक से छोड़ने को कहा था।"

मौंचू ने लिफ़ाफ़ा जेब पर ठूँस लिया। चुपचाप स्टेशन की ओर बढ़ गया। गाड़ी में उसने लिफ़ाफ़ा फाड़कर पत्र पढ़ा, लिखा था :—

मौंचू,

क्या मालूम था कि हम इस तरह अलग-अलग होवेंगे। मेरी माँ ने कहा कि तुम्हारी माँ नहीं चाहती है कि छोटे घर की लड़की से तुम्हारा विवाह हो। लेकिन तुम तो बड़े नहीं हो। तुममें घमंड भी नहीं है। हमारा शायद इतना ही रिश्ता था। बुरा न मानना हाँ—

मौंचू की ही।

मीला।

मौंचू ने सिगरेट सुलगा ली। फूकने लगा। सुलगती हुई दियासलाई चिट्ठी से लगा, चिट्ठी खिड़की से बाहर फेंक दी।

मनोवैज्ञानिक पहलू

"मुझे तुम्हारी ज़रूरत थी प्रोफ़ेसर" सुबोध ने तपाक से हाथ मिलाते कहा—"और मैं अकेला यहाँ ऊब भी गया था। चाहता था, कोई ऐसा साथी मिल जाये, जिसके साथ चैन से कुछ दिन काटता आराम से पड़ा रहूँ। आज तक बिलकुल फ़ुर्सत नहीं मिली। तुम्हारी धुँधली याद दिमाग़ में थी। पुराने पते पर इसीलिए चिट्ठी डाली। एक अरसे तक जिसके साथ रहा, वह आवेगा सन्देह था। अपनी उम्मीद की अवहेलना को ठुकरा, मैं सोचता हूँ कि तुमने आकर मुझे उबार लिया है।"

कह सुबोध चुप हो रहा। प्रोफ़ेसर ने सुबोध की बात सुनी; फिर ज़रा समझ कहना शुरू किया—"तुम यहाँ पड़े होगे, मैंने यह न सोचा था। क्या तुमको दुनिया के बीच रहकर, चलना नहीं था?"

"नहीं-नहीं ।" सुबोध ने ज़ोर से कहा, आगे चुप हो गया । प्रोफेसर की ओर आँखें उठा, उसे ख़ूब देखा । फिर आँखें मूँद कुछ सोचने लगा । आख़िर बोला, "चलो ।"

अन्दर कमरे में दोनों बैठ गये । सुबोध ने सिगार प्रोफेसर को दिया और ख़ुद भी दूसरा सुलगाया । सिगार और धुएँ का बहाना पा दोनों ही चुपचाप रहे । सुबोध ने अब बात शुरू की—"यहाँ इतनी दूर कोई नहीं आता है । माना, कोई आ भी जाये, टिकता नहीं । यहाँ के वातावरण की एकान्तता उसे डस लेती है । मुझे भी ज़्यादा फ़िक्र नहीं रहती । मैं वह मोल ले लेने का क़ायल नहीं । बेकार की तवालतें भले आदमी साथ नहीं रखते हैं । किन्तु यह जगह मुझे पसन्द है । यहाँ का व्यक्तित्व मेरा ही है । यहाँ से बाहर जा, दुनिया के लोगों के बीच चलने-फिरने का सवाल दिल में कभी नहीं उठता है । लोग चाहते हैं, दुनिया के बीच अपनी जगह बना लेना । मैं उनसे भिन्न हूँ ।"

"भिन्न..........!" प्रोफेसर ने दुहराया ।

"शायद तुमको याद नहीं है । कभी मैंने तुमसे कहा था । मेरा हृदय कुछ अजीब कीटाणुओं की बस्ती लिये है । साधारण आदमी के चलते ख़ून में पीले और हरे कीटाणु बराबर होते हैं । मैं उनमें न था । एक दिन डाक्टर ने हृदय की परीक्षा ले कह दिया, तुम ज़िन्दा नहीं रह सकते हो । तुम्हारे हृदय के पीले कीटाणुओं को हरेवाले खाते जा

रहे हैं। एक दिन आयेगा जब सारे पीले कीटाणु खतम हो जावेंगे, और तुम........।"

"तुम....!" प्रोफेसर ने आश्चर्य में दुहराया।

"इसमें शक क्यों उठता है। यही न, या तो मर जाऊँगा अथवा कहीं पागलखाने की हवा खानी पड़ेगी।"

कहकर सुबोध ने सिगार उठाकर मुँह से लगा लिया। इतमिनान से सोफा पर लधरा, जैसे कि यह बात कहकर वह कुछ देर चुप रहेगा। और प्रोफेसर बात की गहराई पर उतरने लगा। वह उलझन में था कि इतनी सीधी कही बात है क्या। किस तथ्य पर वह उतरेगा। उचित या....? सुबोध हड्डियों में सीमित-भर प्रोफेसर को मिला। उसका पीला चेहरा, गड्ढे में घुसी आँखें! आकृति की पहचान उसे थी, अन्यथा एकाएक सुबोध है कह, वह अपने को ठग लेता। काली धारीदार कोट-पैण्ट में सुबोध ऐसा लग रहा था, जैसे वह यदि बाहर के लोगों के बीच एकाएक पहुँच जाय, तब बाहर के लोग इस अजनबी जन्तु को देखने को कुछ देर खड़े रह जावेंगे। इसे देखकर हरएक अपनी राय देगा। उसकी आँखों के आकर्षण पर सब टिक जावेंगे। उनकी अनुमति के बीच,........। इस इतनी बड़ी दुनिया में........?

"लेकिन, न मैं पागलखाने गया, न मरा। वैसे इतना अलग हूँ कि मौत का दायरा भी इसके आगे हार जावेगा।

दिल के खून में कीटाणुओं का ज़िक्र मैंने अभी किया। मैं उनसे दिलचस्पी लेने लगा। जान लेना चाहता था कि वह छोटे-छोटे 'माइक्रिसकोप' की पकड़ में आनेवाले कीटाणु क्या हैं? जो इतनी बड़ी दुनिया को खेल बनाये हैं। उनकी शक्ति क्या है। ज़रूरत पर यदि उनकी पैदायश की जा सके, तब क्या होगा? वैसे बात छोटी है—साधारण। पीले और हरे कीटाणु एक दूसरे पर ऐसा अधिकार रखते हैं कि कोई भी दूसरे के आगे अपने को कमज़ोर साबित होने का मौक़ा नहीं देता है। एक दूसरे को खा लेने की ताक में रहता है। और एक दिन जब एक नाश हो जाता है, तब मनुष्य की शक्ति चुक जाती है। लोग यह भेद न जानकर कह देते हैं, वह मर गया। मैं यह मान लेने को तैयार नहीं। ज़रा-ज़रा बातों पर ज़िन्दगी का हिसाब-किताब टिका रहता है। कुछ काम करने को मन नहीं करता। एकान्त-प्रियता पसन्द है, भारी दुःख-पीड़ा दिल को घेरे रहती है। समझ लो, पीले कीटाणु हरों पर अधिकार जमा रहे हैं। दिल की उस छोटी जगह के इस खेल से दुनिया अनजान है। डाक्टर इलाज करना भी नहीं जानता कि बात क्या है। यों ही समझ लो कि तुम तो ज़्यादा खुश हो, तब हरे कीटाणु बढ़ रहे हैं। हम कह देते हैं कि दूसरे का प्रभाव हम पर पड़ा है। बात यह है कि उसके हरे कीटाणुओं में यह ताक़त है, वह हमारे शरीरवालों

पर अपना कब्ज़ा कर लेते हैं। जैसे कि ज्यादा शक्तिवाला चुम्बक, कमवाले को अपने में समा लेता है।"

"सुबोध !" प्रोफेसर ने बात कुछ भी न समझते हुए कहा—"तुम क्या कह रहे हो यह। दुनिया से दूर, क्या यही सब सीख लेने में आज तक तुम पड़े रहे। और यह सब ढूँढ़कर तुम क्या अब कर लेना चाहते हो।"

"क्या ?" कह सुबोध हल्के—मुस्कराया "जानते हो क्या चाहता हूँ मैं। यही कि एक दिन अपने शरीर के कीटाणुओं को इतना ज़बर्दस्त बना दूँ कि सारी दुनिया पर हुकूमत कर सकूँ।" कह सुबोध उठा, उठकर धीरे-धीरे इधर-उधर टहलने लगा। फिर 'ऐश ट्रे' से सिगार उठा, मुँह पर लगाया। प्रोफेसर चुपचाप बैठा था। अपने को भूलता, सुबोध पर भी कुछ न सोच सका। उसे कुछ लगा, उसके दिल की धुकधुकी के बीच हज़ारों हरे और पीले कीटाणु खेल रहे हैं। उसी खेल के साथ ज़िन्दगी उसकी चालू है। उन पर ही वह टिका है। और वे आख़िरी खेल खेलकर उसे समाप्त कर देवेंगे। वह कुछ नहीं हैं। उस खेल का अचेतन व्यक्तित्व........। जहाँ अनजाने खेल शुरू हुआ, होता रहा, हो रहा है। वह मात्र उस लगाव के बन्धन में उतना ही है, जितना खेल के क़ानूनों के भीतर।

कि सुबोध ने ध्यान बँटाया—"प्रोफेसर तुमने कभी यह नहीं सोचा होगा। अपनी किताबों और कालेज में लड़कों

से वास्ता रख, तुमको कुछ और करना नहीं था। लेकिन....? जानते हो........। एक छोटी बात को लेकर फजूल कोई आगे भी नहीं बढ़ता। खैर उठो, हाथ-मुँह धोकर सुस्ता लो। इतने लम्बे सफ़र के बाद तुम थक गये होगे। मैं........? ज़िन्दगी का इतना बड़ा सफ़र कर भी आज ताज़ा हूँ। मुझे थकान महसूस नहीं होती है। मैं ऐसी धातु का बना हूँ, जहाँ कुछ भी असर नहीं होता।" कहना बन्द कर सुबोध ने मेज पर धरी घण्टी का बटन दबाया।

एक उन्नीस-बीस साल की युवती दाखिल हुई। सुबोध बोला, "गौरी, प्रोफ़ेसर आ गये। इनके रहने का इन्तज़ाम कर देना।"

प्रोफ़ेसर गौरी के साथ बाहर आया।

सुबोध अब कुछ निश्चिन्त हुआ। कमरे में चुपचाप घूमता-फिरता रहा। प्रोफ़ेसर एकाएक आवेगा, उसे विश्वास न था। उसने बुलाया था, लेकिन इतनी जल्दी उसे सँभाल लेने को वह कुछ तैयार अपने को अभी न पाता था। किन्तु जिस प्रयोग के साथ वह अब तक खेला, जिसके लिए दुनिया से दूर रहा, और आज इतने साल काट अपने पर अफ़सोस नहीं करता। उसके लिए प्रोफ़ेसर को बुलाना लाज़िम था।

उधर प्रोफ़ेसर गौरी के साथ बाहर आया। गौरी के आकर्षण ने प्रोफ़ेसर के दिल में 'कुड़कुड़ाहट' शुरू कर दी। वह चुप था, रहा।

गौरी रुकी। एक कमरे का दरवाज़ा खोल बोली, "यह आपका कमरा है।"

प्रोफ़ेसर ने कमरा देखा। बिलकुल साधारण। कुछ ज़रूरी सामान के अलावा और कोई ख़ास चीज़ न थी।

गौरी ने फिर कहा, "आपको चाय का इन्तज़ाम करवा दूँ। आप हाथ-मुँह धो लें।" चुपचाप बाहर चली गयी

गुसल से निपटकर वह कुर्सी पर बैठ गया। एक युवती चाय लायी। मेज पर रखते कहा, "गौरी जीजी ने भेजी है।" और चली गयी।

प्रोफ़ेसर ने जाती हुई उस युवती को देखा, जो अपनी आहट बखेर चली गयी। उसने चुपचाप चाय की प्याली बनायी। एक चुस्की ली, दूसरी, तीसरी........

कि दूसरी युवती आयी और मेज़ पर मिठाई की और मेवों की तश्तरी रख, फल, नमकीन दूसरी ओर सँवारने लगी। चुपचाप जाने को थी कि प्रोफ़ेसर ने पूछा, "सुबोध क्या चाय पीने नहीं आवेगा।"

उस युवती ने एक बार प्रोफ़ेसर की ओर देखा, फिर अपने सिर का आँचल सँवार, बिना कोई जवाब दिये ही बाहर चली गयी।

प्रोफेसर ने प्याला उठाया। एक घूँट पीकर मेज पर रख दिया। भूलभुलैया में पड़ा कि इस घर की सभ्यता क्या है। मेहमान के साथ का बर्ताव। सुबोध क्यों नहीं आया।

अपनी उलझन में था कि तीसरी युवती आकर बोली, "गौरी जीजी ने कहा है, आप चाय पी लें। वे कुछ देर में आवेंगे।"

'गौरी जीजी ने !' प्रोफ़ेसर अपने मन में गुनगुनाया। लेकिन वह युवती खड़ी न रही। यह कहकर चुपचाप बाहर चली गयी थी। गौरी और उन युवतियों के जैसे प्रोफ़ेसर से कोई वास्ता नहीं था। उन और सुबोध पर सोचता प्रोफ़ेसर उनमें ही खो गया। कहीं कुछ भी उसकी समझ में बात न आती थी। और सुबोध ने आकर जब प्रोफ़ेसर का ध्यान बँटाया, तब उसने देखा, चाय का पहला प्याला ठण्डा हो गया है। सुबोध बोला, "फ़िलासफर चाय तो पहले पी लेता। इस इतनी बड़ी दुनिया की बातें सोच लेने को और भी वक़्त बाक़ी है। उनकी पकड़ में आ जाना ठीक नहीं। उनसे अलग जो रहा, वही आदमी है। ख़ैर........।" दूसरे प्याले में चाय उड़ेलते पुकारा, " गौरी ? गौरी ??"

गौरी आयी। सुबोध बोला, "श्यामा, इन्दु, मायी, रज्जो कहाँ हैं।"

गौरी सबको बुला लायी। सुबोध ने फिर सिगार मुँह पर लगा लिया। सब लड़कियाँ चुपचाप बैठी थीं। चाय चली। चलती रही। प्यालों, तश्तरी, चम्मचों की आवाज़ के अलावा कोई शब्द न हुआ। चाय निपटी। एक-एककर सब युवतियाँ चली गयीं। गौरी अब भी बैठी थी। सुबोध ने बातें शुरू कीं, "कहो, हमारे लिए क्या लाये हो।"

"क्या....?" अटककर प्रोफ़ेसर ने सुबोध को टकटकी लगा, देखते कहा ।

"गौरी तुम अब जाओ ।"

गौरी चुपचाप चली गयी ।

अब सुबोध ने कहना शुरू किया—"गौरी मुझे पसन्द है, प्रोफ़ेसर । इस गौरी को मैंने ग्यारह साल की उम्र से पाला है । और जानते हो, इतनी सारी लड़कियाँ कहाँ से आयीं । सब गौरी साथ लायी है । जब कभी गौरी बाहर जाती है, किसी-न-किसी अनाथ को साथ लाती है । मैं ना नहीं करता । घर की सारी व्यवस्था इसी के सुपुर्द है । यह सब युवतियाँ और गौरी, इस वातावरण की निराशा को हर लेती हैं । इनकी चुहल के बीच, कहीं कुछ कमी महसूस कर लेने का मौक़ा नहीं मिलता है । इसी वजह से ज़्यादा फ़िक्र नहीं घेरती है । फिर भी तुम्हारा आना ज़रूरी था । एक दोस्त, जिसके साथ ज़िन्दगी का काफ़ी लम्बा अरसा काटा—उसे देख लेने को जी तड़फता था । तुमने आकर मुझे उबार लिया । यह अहसान भूल न सकूँगा ।"

सुबोध चुप हो गया । वह अपने उस अहसान में पसरता प्रोफ़ेसर के दिल की भावनाओं को उठाना चाहता था । उन उदित भावनाओं की अपेक्षा में अपने को रला वहीं रहने की फ़िक्र उसे थी । जैसे कि अपनी चाहना की उदा-सीनता से अलग न होगा । यह ख़याल उसका था । उधर

प्रोफ़ेसर समस्या बने, सुबोध पर कोई निजी राय क़ायम न कर सका।

"तुम चुप क्यों हो प्रोफ़ेसर।" सुबोध ने आँखें उठा, प्रोफ़ेसर की ओर देखते कहा—"उठो, अभी तो तुमको बहुत कुछ देख लेना बाक़ी है।"

सुबोध उठा। प्रोफ़ेसर को साथ ले अपनी 'लेबोरेटरी' की ओर चला। रास्ते में बोला, "लेकिन दिल के कीटाणु अकेले कुछ कर नहीं सकते हैं। दिमाग़ का भी उनसे सम्बन्ध है। ये कीटाणु दिमाग़ की छोटी-छोटी नसों में भी खेलते-लड़ते रहते हैं।"

प्रोफ़ेसर को कुछ कहना नहीं था, दोनों 'लेबोरेटरी' के पास पहुँच गये थे। सुबोध ने ताला खोला। एक छोटे-से कमरे में दोनों दाख़िल हुए। प्रोफ़ेसर ने देखा : दीवाल पर एक बड़ा चित्र टँगा था। पास ही एक चार्ट। सामने खुली आलमारी पर बड़े-बड़े ढके 'टब' सँवारे धरे थे।

सुबोध ने पूछा, "जानते हो इसे ?"

"हाँ ! हाँ !!" प्रोफ़ेसर आश्चर्य से बोला।

"इसे घमण्ड था कि यह बहुत बड़ा राजनीतिज्ञ है। दुनिया-भर को कई सीखें देकर ख़ुद विपरीत चलता था। दिन को कहता था, शराब बुरी चीज़ है। रात्रि को शराब पीकर ख़ूब ऐश करता था।"

"सुबोध !" प्रोफ़ेसर ने टोका।

"तुम भी तो यह नहीं जानते थे। दुनिया अन्धों की तरह इसके पीछे चलती थी। एक दिन गौरी उसे फाँसकर जब लायी, तब अख़बारों में छपा—विपरीत दलवालों ने 'उसकी' हत्या कर डाली।"

"सुबोध !" प्रोफ़ेसर फिर बोला। जैसे अपने विश्वास की अवहेलना वह न सह सकेगा।

"और उस बड़े दिमाग़ को लाकर गौरी ने कहा था—आओ, हम-तुम इसके दिमाग़ और दिल से खेल खेल लें। तुमको अब भी विश्वास नहीं है।" कह सुबोध ने दीवाल पर लगा एक 'प्लक' दबाया। खटके के साथ एक तख़्ता बाहर निकला। उसमें काँच का बड़ा सन्दूक़ था। प्रोफ़ेसर ने देखा : वह राजनीतिज्ञ की लाश थी। वह अवाक् रह गया।

"हमारी आज की सभ्यता की बड़ी ज़रूरत है, दुनिया को धोका देना। उनके आगे चिकनी-चुपड़ी बातें करना। जानते हो इसकी सबसे बड़ी ख़्वाहिश क्या थी।" कह सुबोध ने प्रोफ़ेसर की आँखों में अपनी आँखें डुबो कहा, "यह चाहता था। सारी दुनिया की दौलत पर कब्ज़ा कर, तमाम युवतियों को क़िले में बन्दकर ऐश करना। काश कि उसकी हवस पूरी होती।"

"आख़िर यह यहाँ आया कैसे ?" प्रोफ़ेसर ने सवाल किया।

"क्या गौरी सुन्दर नहीं। उसका आकर्षण एक बड़ा हथियार है। छः महीने इसके साथ हमने कई प्रयोग किये। एक दिन वह हमें मरा मिला। यह देखो।"

प्रोफ़ेसर ने देखा कि उन काँच के टबों में किसी तरल पदार्थ के अलावा कुछ नहीं है।

फिर प्रोफ़ेसर ने 'माइक्रासकोप' से देखा। पहले पर हरे और पीले कीटाणु खेलते लगे। दूसरे पर बड़े-बड़े पीले कीटाणु हरों को खा रहे थे।

"जब वह पहले आया, तब की हालत और आखिरी हालत........। वह निराश प्रेमी होकर मरा।" कह सुबोध ने आलमारी से एक डिब्बा निकाल, खोल कहा, "देखो।"

प्रोफ़ेसर ने 'माइक्रासकोप' से देखा; दो नसें एक-दूसरे से लिपटी थीं। एक कुछ हरापन लिये थी और दूसरी बिलकुल पीली।

"उनका असर यहाँ तक पड़ा कि दिमाग़ ठीक बात न सोच सकता था। अपने पर अधिकार न रख सका। सारी नसों को पीले कीटाणुओं ने घेर लिया। और वह........।"

"प्रोफ़ेसर ने 'माइक्रासकोप' अलग हटाया। सुबोध ने सब चीज़ें सँवारकर रख दीं। दूसरे कमरे की ओर बढ़ते वह बोला, गौरी अच्छे चित्र बना लेती है। वह 'आयल-पेण्टिंग' उसी का बनाया था। वह पहचान लेने की एक भारी सामर्थ्य भी रखती है।"

प्रोफ़ेसर कुछ नहीं बोला।

दूसरे कमरे में पहुँचकर उसने देखा कि एक बहुत सुन्दर युवती का 'पेण्टिङ्ग' टँगा है। वह युवती इतनी सुन्दर थी कि फ़ोटो पर से आँख अलग न हटती थी। बिलकुल सजीव। लगता अभी-अभी वह बातें शुरू करेगी।

सुबोध बोला, "हज़ारों इसके पीछे पागल थे। यह किसी को भी अपने में जगह न देती थी। इतनी होशियार कि किसी से इसने अपने दिल की बातें नहीं कहीं। हज़ारों को लूटा। अपने व्यापार के सब पहलुओं में यह पूर्ण थी। हरएक युवक इसके चँगुल में फँसा सोचता, वह उससे प्रेम करती है। अपनी मोहनी, अपनी हँसी में फाँस उनको अलग न किया। खूब धोका दिया। और ……।"

"समझ नहीं पाया, यह यहाँ पहुँची कैसे।" प्रोफ़ेसर दङ्ग रहकर बोला।

"गौरी चाहती थी, वह दुनियादारी सीख ले। पुरुष उसके हाथों खिलौना बन सकते थे, लेकिन स्त्री……। एक दिन गौरी ने कहीं सुना कि यह स्त्री वह सामर्थ्य रखती है। गौरी नारी ईर्षा में कमज़ोर है। आकर मुझसे बोली—मेरे साथ चलो। मैं तब जान लूँगी, वह किन तत्त्वों की बनी है। वह बन्धन में क्यों नहीं आती। वह अभागिनी मेरे नज़दीक गौरी को देख, गौरी के असाधारण सौन्दर्य की स्पर्धा से मुझे अपनाने तुल, हमारे पास आयी। नारी स्पर्धा में मतलब भूल जाती है। वह मुझसे इक़रार चाहती

थी कि मैं गौरी को छोड़ दूँ। तब वह ताज़िन्दगी मेरा ग़ुलाम होकर रहेगी।" कह सुबोध हँस पड़ा। ख़ूब हँसा।

गौरी चुपचाप दरवाज़े की आड़ में खड़ी थी। प्रोफ़ेसर ने देख लिया था। सुबोध फिर कहने लगा, "गौरी ने अपनी हिंसा में उसे समा दिया। एक स्त्री दूसरे के प्रति यह भावना क्यों रखती है, जानते हो ?"

प्रोफ़ेसर ने बात पलटने को कहा, "यह जानकर क्या होगा।"

"जानकर !" सुबोध खिलखिलाया। "कई प्रेमी इस युवती के पास प्रेम की भीख माँगने पहुँचे थे। इसके प्रेमियों की बड़ी 'लिस्ट' थी। एक दिन समाज ने इसे जहाँ खड़ा किया, वहाँ अपने शरीर और सौन्दर्य पर इसे गुज़र करनी थी। तब ही वह सब युवकों को मिटा लेने की फ़िक्र में पड़ गयी।"

"सुबोध !" प्रोफ़ेसर ने टोका।

लेकिन सुबोध कहता ही रहा, "वह कहती थी—मैं जानती हूँ, प्रेम एक व्यर्थ सवाल है। जब अपने से प्रेम न कर सकी, किसी और से एक दिन करूँगी, न जाना था। गौरी ने मेरे दिल की आग जगा दी। यह आग....। इसमें मैं राख बन जाती तब........? नहीं, तुम मुझे उबार लो। मैं पालतू बिल्ली की तरह अपने प्रेमियों को फुसलाना जान गयी थी। मेरी बेबसी और लाचारी को पहचान

लेनेवाला मुझे कोई नहीं मिला। नारी ख़ुशामद की भूखी नहीं है। वह पुचकार और सहारा चाहती है।"

कहना बन्दकर सुबोध दीवाल से लगा बटन दबाने को था कि गौरी कमरे में आयी। तेज़ आँखों से सुबोध को घूरते बोली, "क्या कर रहे हो यह। अपना वादा भूल गये। एक दिन तुमने कहा था, कभी उसे नहीं देखूँगा।" इतना कहकर चुपचाप खड़ी रह गयी।

सुबोध पीछे हटा। प्रोफ़ेसर से कहा, "इस युवती के दिमाग़ पर पहले 'बुद्धिवाद' की पहुँच थी। गौरी ने अपने नारी तेज से उसे भस्म कर दिया। उसे मेरे नज़दीक बहका खुद मुझे पकड़े रही। तुमको आश्चर्य होगा कि उसके हर कीटाणु ज्यादा ताक़तवर होते गये। उसकी बुद्धि पैनी होने की वजह से वह खुद अपने को भूल गयी। कभी वह हँसती थी, तो फिर। लड़कियाँ उसकी मज़ाक़ उड़ाती थीं। एक दिन वह काफ़ी सन्तुष्ट लगी। उस सुबह घण्टों वह गौरी के चरणों में सिर रख माथा टेके रही। गौरी चुप थी। फिर मेरे पास आकर उसने वादा करवाया कि मैं हमेशा गौरी की हिफ़ाज़त करूँगा। दिन भर वह लड़कियों के साथ ताश खेलती रही। साँझ को उसने बाग़ से लाल-लाल फूल तोड़कर सब लड़कियों को दिये। रात्रि को सोने से पहले वह मेरे और गौरी के पाँवों की धूल लेने आयी। गौरी की उँगली में नीलम की अँगूठी पहनायी।

अगली सुबह हमने उसे मरा पाया। उसने दूसरी अँगूठी में भरा ज़हर खा लिया था।"

प्रोफ़ेसर को फ्लास्कों का निरीक्षण कराते सुबोध ने कहा—"लगता है उसकी मौत में एक ख़ुशी थी। न-जाने उसने अपनी वह ख्वाहिश कि वह कभी माँ बनेगी, कहाँ भुला दी। इस बात पर दिमाग़ की नसों ने कुछ भी प्रकाश नहीं डाला। गौरी न चाहती थी कि मैं ज़्यादा छानबीन करूँ।"

गौरी की ओर देख सुबोध बोला, "तू जा अब इतनी दिलचस्पी ठीक नहीं।"

तीसरे कमरे में जाकर कहना शुरू किया—"यह ठीक नहीं कि जीवन का तत्त्व 'ट्रैजेडी' ही हो। यह दृष्टिकोण मुझे ठीक नहीं जँचता है। यह सामने फ़ोटोवाला एक बड़ी कम्पनी का मालिक था। यह हमेशा चापलूसों और ख़ुशामदियों से घिरा रहा। उसको सही बात से मतलब न था। ग़रीब होना, एक सामाजिक क़ुसूर है। उनके प्रति उदारता इसे न आती थी। जीवन की ख़रीदारी के लिए किसी बात की कमी इसने नहीं की। ज़िन्दा यह हमारे चंगुल में नहीं फँसा। इसे हमने मरवाया और गौरी इसकी लाश ले आयी।"

"यह गौरी क्या है।" प्रोफ़ेसर तपाक से बोला।

"मेरे जीवन का सबसे बड़ा हथियार।" सुबोध का जवाब था।

"हथियार!" प्रोफ़ेसर गुनगुनाया।

"यह बड़े दिमाग़वाला था। एक बड़े समाचार-पत्र का सञ्चालक। 'सेन्सेसन' और 'रोमान्स' की ख़बरें छापकर पैसा कमाना उसकी नीति थी। अर्द्ध-नग्न युवतियों के फ़ोटो का प्रदर्शन कर, 'सेक्स-अपील' की वजह से, हज़ारों कापियाँ अख़बार की बिकती थीं। ख़ून के समाचार, बलात्कार के मुक़दमे, डाके ......। आज की जनता की रुचि पकड़ने में वह सफल रहा।"

"इस इतनी बड़ी दुनिया को तुम क्यों समझ लेना चाहते हो सुबोध।"

"कुछ नहीं। मैं उन व्यक्तियों में था, जिनका सम्बन्ध दुनिया से नहीं है। मजबूरी से जब वह फँस जाते हैं, फिर अलग कैसे हों। मुझे दुनिया में समाज ने धोखा दिया। पैदायशी कलंक की वजह से मैं लावारिस हूँ। किसी ने मेरा साथ नहीं दिया। मैं भी जीवन से ऊब गया। आज तुम देखते ही हो, मेरे पास कुछ कमी नहीं।

थका प्रोफ़ेसर अपने कमरे में गया। आज जो कुछ उसने देखा, वह भले ही अजीब हो, था सच। सोचा उसने, इस सुबोध को दुनिया का अविश्वास बटोर क्या पाना है। और सुबोध और इन विचित्र युवतियों के बीच उसे चलना है, विश्वास अपने पर न होता था।

जीवन में इतने प्रयोग कर, जब एक दिन सुबोध ने प्रोफ़ेसर—अपने बचपन के दोस्त—को भी एक प्रयोग

बनाने का निश्चय किया, तब उसकी अन्तरात्मा में हल्ला नहीं हुआ। उसे बुलाने से पहले उसने गौरी की राय ले ली थी। गौरी जानती थी कि कुछ महीने बाद, प्रोफ़ेसर की भी वही दशा होगी, जो इतने सारे व्यक्तियों की हुई। चित्र, मशालों से भरा शरीर, 'फ्लास्क' में सँवारे कीटाणु....। आज तक जिस उत्साह से वह नये आदमी का चित्र बनाती थी, उसी तरह यह भी उसने शुरू किया। जितना हेलमेल ज़रूरी था, रखकर आप ख़ुद अलग रही। बड़ी-बड़ी रात तक चित्र पर रङ्ग भरती, उन फैली जालवाली रेखाओं में अपने को डुबोये रहती। घर के रोज़ के व्यवहार में कहीं कोई फरक न पड़ा। सुबोध अपनी थ्योरी, दिमाग़, हृदय की गति, मनुष्य और नारी का लगाव—न-जाने क्या-क्या बातें सुलझाता था। प्रोफ़ेसर चाव से सुनता। अकसर गौरी भी अपना मत आगे रखती थी।

एक रात्रि गौरी चित्र बनाने में लीन थी। प्रोफ़ेसर का खाका पकड़ में आ गया था। ज़रा भी कहीं कुछ कमी न थी। चित्र में रङ्ग भर रही थी। रेखाओं के मोड़ से मनुष्य के स्थायी सम्बन्ध को वह साबित करना चाहती थी,

कि एकाएक प्रोफ़ेसर कमरे में आया। गौरी की ओर देखकर बोला, "मेरी मौत का इन्तज़ाम कर रही हो गौरी।"

"मौत का?" गौरी ने बात हँसी में टालते कहा।

"मैं इतना अनजान नहीं। लापरवाह........। तुम मेरी मौन में मदद दोगी, विश्वास नहीं था।"

"प्रोफ़ेसर !" गौरी ने भरपूर प्रोफ़ेसर को देखते कहा।

"तुमने ग़लत समझा गौरी। तुम्हारे पास कुछ नहीं है कि मुझे अपनी पकड़ में रख सको। जानती हो........।"

"प्रोफ़ेसर !" गौरी उलझन में बोली। आगे क्या और कहे, समझ नहीं पायी।

"जानती हो, मौत का डर मुझे नहीं। आज़ तक मौत से हमेशा लड़कर भी अपने को ज़िन्दा पाया।"

प्रोफ़ेसर चुप हो रहा। गौरी के दिल में भावना उदित हुई, प्रोफ़ेसर की बात ठीक भी हो सकती है। किन्तु........।

"मौत !" प्रोफ़ेसर ने हँसते कहा—"वह मैं ज़रूरत पर पा जाऊँगा। तुम और सुबोध के बीच मर जाऊँ, फिर भी अफ़सोस नहीं। पहचानी मौत का डर क्या। लेकिन, तब भी तो तुम्हारी तृष्णा मिटेगी नहीं।"

"तृष्णा........।" गौरी अवाक् रह गई।

"गौरी, क्या कभी तुम्हारे दिल में यह बात नहीं उठती कि तुम एक गृहस्थ में होती।" कह प्रोफ़ेसर कुछ सुने बिना ही चला गया।

अगली सुबह प्रोफ़ेसर देर से उठा। उठकर सुबोध के कमरे में गया। सुबोध चुपचाप सिगार पीता, नये 'फ्लास्क'

में खेलते कीटाणुओं को 'माइक्रासकोप' से देख रहा था। प्रोफ़ेसर समझ गया कि वह सब उसी से सम्बन्धित है। कहा नहीं कुछ। सुबोध प्रोफ़ेसर को देखकर हँस पड़ा, कहा, "अजीब दुनिया है यह। कल की चाहना आज के हिसाब में नहीं। आत्मा की बड़ी भूख एक दिन जब हमारे शरीर को खा जावेगी, क्या होगा फिर, जानते हो........।"

प्रोफ़ेसर उसकी प्रभावशाली आँखों की तेज़ी में सिहर उठा।

"नहीं जानते हो। वह मौत नहीं। तब हम दार्शनिक हो जावेंगे। तब ठीक हम लगेंगे। और जीवन में कोई लालसा बाक़ी नहीं रह जावेगी। जाने दो इन बातों को। यहाँ ऊब तो नहीं गये।"

"ऊब।" प्रोफ़ेसर अटक पड़ा, बोला—"गौरी और तुम्हारे खेल के बीच भला कोई ऊबा।"

"खेल के बीच।" सुबोध की आँखें खिल उठीं।

"जाने दो उस बात को। मेरे दिल की एक बड़ी ख़्वाहिश है कि उस युवती का सौन्दर्य देख लूँ, जो अपने में हज़ारों को रख लेती थी। एक दोस्त की ख़ातिर तुम यह मंज़ूर करोगे, मुझे विश्वास है।"

सुबोध ने आनाकानी नहीं की। दोनों उस कमरे में पहुँचे। सुबोध ने बटन दबाया। उस युवती का शरीर बाहर आया। मौत के बाद उस निखरे सौन्दर्य को देखकर, सुबोध दङ्ग रह गया। कई मिनट तक उसके आगे खड़ा-का-खड़ा

रहा। प्रोफ़ेसर चुपचाप बाहर आया। आकर गौरी से बोला, "तुमको अपने सौन्दर्य का घमण्ड था न। वह एक स्वप्न अब है। सुबोध अब तुम्हारा नहीं, उस मरी युवती का है।"

गौरी सन्न रह गयी। भागी-भागी कमरे में पहुँची, देखा कि सुबोध उस युवती के आगे बुत-सा खड़ा था।

"सुबोध बाबू।" वह बोली।

सुबोध ने गौरी को देखकर भी कुछ न कहा। जैसे कि इस सभ्यता, समाज, विज्ञान और ख़ुद अपने प्रति उठती घृणा का विद्रोह वह पा गया हो। बोला, "जाओ तुम गौरी। क्या देख रही हो यह।"

गौरी आज्ञा की अवहेलना न कर सकी। चुपचाप चली गयी।

बाहर आकर प्रोफ़ेसर से बोली, "तुम जीत गये। जिस खेल को हम आज तक खेलते रहे, विश्वास न था, कोई एक दिन हमसे खेलेगा। अपने प्रति असावधान रह, मौका पा यह तुमने ठीक नहीं किया।" कह चली गयी।

उसी रात्रि से गौरी ने प्रोफ़ेसर के चित्र की जगह सुबोध का 'पेण्टिङ्ग' शुरू कर दिया।

दूसरे दिन प्रोफ़ेसर चला गया। गौरी की उलझन बढ़ती चली जा रही थी। जिस बात का उसे डर था, वही हुआ। उस मरी युवती के प्रति सुबोध की श्रद्धा उभर आयी थी।

जिन कीटाणुओं का प्रयोग सुबोध करता रहा, उनके बीच उसे 'खेल' गौरी पाती थी। सुबोध से जो, जितना उसने सीखा-जाना था, वहीं तक वह पहुँची।

प्रोफ़ेसर की चिट्ठी तीसरे महीने मिली :

'गौरी

तुमने मुझसे प्रेमकर ही अपने सुबोध को खोया। तुम्हारे दिल पर मेरा अधिकार हो गया था। तुम में वह प्रभाव न था कि मुझे अपने में कर लेती। सुबोध का खेल मुझे पसन्द था। वह एक दिन 'खेल' बना, ठीक वह भी था।

तुम भी........

किन्तु,

उसी रात्रि गौरी ने सुबोध के शरीर को नये कमरे की आलमारी में सँवारकर रखते हुए, 'फ्लास्क' में आखिरी कीटाणुओं का खेल देखा था।

कङ्कड़, चूना, ईंटें......

"मनोरमा की बात सुनोगे।" रामू ने रेत में फावड़ा चलाते-चलाते कहा।

किशोर ने चुपके रामू की ओर देखा। कुछ भी उसकी समझ में बात नहीं आयी।

आधी रात, गङ्गा के किनारे का श्मशान। अभी-अभी सामने कुछ शृगाल, हू-हू-हू करते, इधर-उधर झाड़ियों के बीच छुप गये थे। गङ्गा के किनारे अजीब पक्षियों का एक दल छप-छप-छप करता पानी में बार-बार डुबकियाँ लगा रहा था। कुछ हटकर, आम के पेड़ों के एक गिरोह के नीचे घना अँधियारा था। बड़ी दूर दीखती घाटी, जहाँ पर करवट लेती-सी नदी मुड़ी थी, वहाँ मछुओं ने कुछ दिनों से अपना डेरा डाल लिया था। उनकी लालटेन की मन्दी-मन्दी रोशनी बीच-बीच में कभी-कभी चमक उठती

थी। किशोर चुपचाप रेत हटाता जाता था और रामू फावड़ा चलाने में मशगूल था।

"तुम अफ़सोस कर सकते हो। इसी एक भारी चीज़ को पाकर आदमी कृतार्थ हो जाता है। अन्यथा जीवन को स्थायी किसने गिना है। मृत्यु के बाद ही तो जीवन का अस्तित्व पूर्ण हो जाता है। उसे तोल तब हम सकते हैं। स्थिर होकर बना एक ढाँचा, माप और परिणाम में खरा लगता है।"

"क्या तुम कहते हो रामू? तर्क कब मैं कर रहा हूँ। विवेक साथ है, तब भी व्याख्या का क़ायल नहीं। तुम क्या कहते थे मनोरमा के बारे में?"

"कुछ नहीं, कुछ नहीं।" कहते-कहते, रामू ज़ोर-ज़ोर से जल्दी-जल्दी फावड़ा चलाने लगा। कहीं भी थकावट को सुस्ताने का मौका, जैसे कि वह नहीं देना चाहता हो। अथवा उस ओर निपट लापरवाही वह ठाने हुए था।

"कुछ नहीं! बात उठाकर इस तरह ढक लेना तो न्याय नहीं होगा। मैं इसे जीवन की तुम्हारी कथित फिलासफ़ी की तरह मान्य भी नहीं गिनता हूँ, जैसे कि तुम अभी-अभी कुछ देर पहले सुना रहे थे।"

"क्या!" रामू ने फावड़ा वहीं रेत में गड़ा रहने दिया। हाथ अपना हटाया। उस फावड़े को बिना सहारे खड़े रहने देना ही जैसे कि उसकी इच्छा थी।

किशोर ने उस चुपचाप खड़े रामू की ही कुछ देर पहले कही बात दुहरायी—"तुमने ही तो अभी-अभी श्यामू की चिट्ठी के टुकड़े-टुकड़े कर रेत में उसे मिलाते कहा था ; यह चिट्ठी क्या, उस शरीर को भी एक दिन धूल में मिल जाना है। न वह ज़िन्दादिली साथ देगी, न वह सौन्दर्य ही। लाश को एक उपयोग मानकर गाड़ देना उचित नहीं लगता है। पशु-पक्षी तो उसे खूब खा सकते हैं। तेरी इन सब बातों को मैं कब समझ पाता हूँ रामू। छिः, यह क्या बात !"

"श्यामू की बात तू कहता है। श्यामू ने भला अपने पति के पास से, गृहस्थी के दायरे से, उस चिट्ठी को लिखने की अनधिकार चेष्टा क्यों की थी। उसे यह सब अधिकार अब नहीं था। इतने विस्तृत पत्र को लिख लेने की फ़ुरसत पा लेना बेकार-सी बात लगती है। और क्यों वह लोगों में दावा करती फिरती है कि एक दिन मुझे भी गृहस्थ बनाकर छोड़ेगी।"

"रामू ठीक तो कहती है वह, सही बात।"

"कहती है। नहीं, मेरी इस गृहस्थी की बात को वह मन-बुझाव कर लेने का साधन बनाये है। विवाह के बाद उसे ज्ञान आया कि उसकी, वह शादी कर लेनी ग़लत बात थी। ज़रा-सी भावुकता की वजह से अब वह एक ज़िम्मे-दारी के बीच फँस गयी है। अपना 'निज' आज उसका

कुछ नहीं। पति के बाद वह है। और निश्चित केवल अपने ज्ञान से ही चलने का कोई भी अधिकार आज उसे नहीं है। तभी तो वह मेरी इस स्वतन्त्रता का बाँध लेने का 'शळजा' कभी-कभी अपने जीवन के बीहड़ रेगिस्तान में बनाया करती है।"

"क्या कहता है तू रामू !"

"उसकी शादी के बाद, जब एक दिन उसके घर के दरवाज़े के पास से गुज़र रहा था, तब वह चुपचाप दरवाज़े की ओट में खड़ी होकर, चूड़ीवाली से, चूड़ियाँ ले रही थी। मुझे जल्दी भागते हुए देख उसने चूड़ीवाली से कहा कि वह मुझे पुकारकर बुलवा ले। अपने आप वह नाम पुकारने तक से असमर्थ थी।"

"असमर्थ !"

"नहीं, तो क्या वह खुद नहीं पुकार सकती थी। और चूड़ीवाली के पुकारने के बाद भी मैं बढ़ता ही चला गया। तभी अपनत्व को खोकर, वह भारी निराश हो गयी। अपने पर कोई वश नहीं रहा। हाथ में पहनने को भारी ख्वाहिश से ख़रीदी वे सारी चूड़ियाँ खन-खन, खन-खनकर वहीं सीढ़ियों में गिर पड़ी थीं। आगे जब मैं एक दूकान पर बैठा कचौड़ियाँ खा रहा था, चूड़ीवाली ने यह बात मुझे सुनायी थी। और मैंने खुद ही लौटते देखा था कि कई-कई, उन रङ्गीन काँच की चूड़ियों के टुकड़े फैले थे और

उनके बीच श्यामू का सारा विद्रोह निर्जीव दुबका सोया पड़ा हुआ था।"

"बेकार तुमने वह सारी आग सुलगायी।"

"मैंने, नहीं; श्यामू ने जिस ग़लत धारणा को लेकर विवाह किया था, मैं भले ही उससे सहमत न था, फिर भी इनकार करने का कोई भी अधिकार मैंने पेश नहीं किया। समाज को कुचल डालना ही चाहूँ, किन्तु वह विधि अपने से बाहर किसी और पर लागू नहीं करना चाहता हूँ। बेकार क्यों एक भारी कुनबा लड़के-लड़कियों और बच्चों का सिर्फ़ अपना ही साबित करने को जुड़ाया जावे।"

"क्या ?"

"अरे शादी करके नहीं, उससे अलग रहकर भी हो सकता है। समाज में कुछ लोगों को दोस्त बनाने का शौक है, उनके बीच चलना; कुछ युवतियाँ भी आज इतनी 'बोल्ड' हैं कि आगे बढ़कर आदमी से उनको कोई हिचकिचाहट नहीं है? समाज और आदमी की ओर से वे उदासीन और लापरवाह रहती हैं।"

"और बच्चे !"

"ओह," कहता रामू ठहठहा मारकर हँस पड़ा। "अरे सुन, बच्चे अपने न सही, और-और लोगों के तो हैं ही। दूसरों के बच्चों को भी खूब प्यार किया जा सकता है। इसे अनधिकार क्यों तुम साबित कर देना चाहते हो। यह

एक ग़लत ख़्याल है कि बच्चे को चूमना, उसकी युवती माँ के ऊपर एक भारी भार लाद देना है। इन ढेर-से अपवादों की वजह ही से तो आज लड़की सतर्क होकर चलना सीख गयी है।

"क्या तुम कह रहे हो रामू।"

"सही-सी बात है। पीड़ा जब आदमी के दिल में उदित हो जाती है, सिर्फ़ भावुकता का आसरा लेकर ही वह नहीं चल सकता है। और न वह इतना बेवकूफ़ बाक़ी रह जाता है कि हरएक युवती, जो उसके पास आती है, उसे प्रेमिका घोषित कर सके।"

"प्रेमिका !"

"आज के युवक ने अपने को होशियार साबित कर लेने के लिए यार-दोस्तों के बीच क्या-क्या रङ्गीन बातें दुहराना नहीं सीखा है। कहीं किसी युवती को झरोखे से देख लिया, बस उसकी ख़्याली तसवीर से बेकार उलझना ही उसने सीखा और जाना है। बेकार एक भारी वक़्त इसी तरह वह गवाँ दिया करता है।"

"लेकिन रामू, यह इतना ज्ञान तुम कहाँ से पा गये।" कहकर किशोर ने फावड़ा उठा लिया और रेत खोदने लग गया।

रामू चुपचाप एक ओर खड़ा था। कुछ देर तक चुप-चाप टकटकी लगाकर किशोर की ओर देखता रहा और

फिर धुँधली चाँदनी में गङ्गा में बहती किसी काली-काली चीज़ को देखता हठात् बोला—"वह देख किशोर।"

"क्या-क्या।" किशोर ने रामू की उँगली की सीध में देखा।

"बोल, क्या होगा ?"

"क्या जाना जा सकता है। बरसाती नदी में पेड़, गाय, भैंस, सब बहकर आते हैं।"

"और आदमी का नाम लेते हिचकिचाहट क्यों मन में उठ रही है। यही बात है न कि आदमी की मौत सुन लेना या कह देना एक भारी नैतिक अपराध लगता है। अन्यथा वह भी कह लेते, आदमी डरता नहीं।"

"क्या !"

"यही न कि मौत के बाद जीवन शुरू होता है। याद न वह दिन, जब बीरू भइया की लाश को फूँकने इसी श्मशान पर लाये थे। कितनी घनी बरसात थी और उस बरसात में भी अपना एक भारी कर्तव्य हमने कर डाला था। तूने भी तो अपना बरसाती कोट ओढ़ लिया था।"

"जाने भी दे रामू उन बातों को। डर न जाने क्यों लग रहा है। फिर कभी इन ऐसी बातों पर दलील करना।"

"और आज सुबह ही तूने नहीं देखी थी, वह किसी औरत की लाश।"

"दादा, मैं भौंचक्का रह गया था उसे देखकर। कहाँ से

वह बहकर आ गयी थी। उसकी वह सुन्दर सिल्क की साड़ी, बढ़िया जम्पर और, और....।"

"उम्र भी तो अठारह से ज्यादा नहीं लगती थी।"

"किन्तु रामू मैं उसे देख नहीं सका था। सुन्दर पीले चेहरे को ऊपर से पानी की सुफ़ेद-सुफ़ेद काई ने ढक लिया था। वह असह्य था। आखिर वह उतनी फूल क्यों गई थी।"

"थक गया है, अच्छा ला, मुझे दे फावड़ा।"

"नहीं-नहीं।" कहता हुआ किशोर फिर फावड़ा चलाने लगा।

धीरे-धीरे कुहरा फैलने लगा। हलकी-हलकी बूँदा-बाँदी भी शुरू हो गयी। किशोर फावड़ा चलाने में तन्मय था और डलिया भर-भरकर रामू रेत एक ओर फेंक रहा था। एकाएक नदी में एक भारी छपाका हुआ। दोनों चौंक उठे। रामू बोला—"कुछ नहीं, रेत का किनारा गिर पड़ा है। क्यों मनोरमा की बात कह रहा था मैं।" वह चुप हो गया।

रामू ने बात कहने से पहले कुछ मन में निर्णय किया। कुछ देर बाद कहने लगा—"मनोरमा को कब जानता था। न सोचा था कि उससे एक दिन मेरी पहचान होगी। लेकिन इस अनजान दुनिया में कब किससे वास्ता पड़ जाय, यह बात तो कोई नहीं जानता है। कई आश्चर्य हमारी इसी दुनिया में तो हैं। उन पर हम कब अधिक सोचते हैं। और ऐसी ही एक रात थी। इससे भी डरावनी और

फीकी। खूब पानी बरस रहा था। निराश्रय इस शहर में आधी रात बीस मील चलकर आया था। बहुत थकावट लग गयी थी। भूख से प्राण निकलने को ही थे। मन को बुझाना साधारण बात है। दुनिया के प्रति उठती भावनाओं, आकांक्षाओं अथवा दिमाग़ी एक भारी झगड़े को दार्शनिक बन, तर्क की कसौटी से भुलाया जा सकता है। किन्तु शारीरिक भूख से छुटकारा पाना आसान काम नहीं है। तब यदि अपना ही कोई अंग भूख मिटाने का साधन बन सके, तो आत्मा ना नहीं कर सकती है। अपने अङ्ग के प्रति उठता लोभ भी हटाया जा सकता है। वैसी ही भूख तो उस दिन मुझे लगी थी। तीन दिन से खाना नहीं खाया था। कई-कई मील पैदल मुझे चलना पड़ा था। सभ्य था, किसी से कुछ माँग कैसे सकता था। एक बार भिखारियों की तरह हाथ पसारने की कोशिश भी की तो हाथ खुद खिंच गया था।"

तभी किसी जानवर की आवाज़ कानों में पड़ी—गुर-गुर-गुर। और कोई अजीब चिड़िया, एक बड़ी दर्दनाक आवाज़ में बोल रही थी। किशोर फावड़ा चलाता ही रहा। रामू ने पूछा—"डर लग रहा है क्या ?"

"श्यामा की चिट्ठी के ये टुकड़े रामू रेत में मिल-मिल गये हैं।"

यों क्यों नहीं कहता है कि श्यामू की बात तू सुनेगा !

वही, जो ज़रा-सी एक बात से, अन्यमनस्क हो, अपनी सारी ख़रीदी चूड़ियों को टुकड़े-टुकड़े बना, दरवाज़े के बाहर उनको छोड़ गई थी। जानता नहीं, वह कितना अनादर मेरा था। उसका उत्तरदायित्व मुझे डस गया। श्यामू क्यों उन रूढ़ियों से चलती भावनाओं पर फिर भी विश्वास करती है। मैंने एक दिन समझाया था कि अविश्वास में बड़ी सामर्थ्य है। कौन-कौन दुनिया में अपने नज़दीक नहीं आते हैं और किसे-किसे हम भूल नहीं जाते हैं। कितनों को अपना सगा हमने पाया है? बेकार सारा यह बखेड़ा ही तो है। अपनी परेशानियों के बाद ढेर-सी और लोगों की फ़िक्र बटोर लेने का वक़्त मेरे पास नहीं है। आज जिससे पहचान है, कल उसी के पीठ पीछे हट जाने पर उसे अनजान मान लेता हूँ। मुँह के आगेवाली पहचान तो सिर्फ़ दुनिया के बीच चलने के लिए एक सहूलियत है। उसकी अवज्ञा करना तो मनुष्यता को कुचलना है और उसके प्रति उदासीन रहनेवाला कोई तकाज़ा भी मेरे साथ नहीं है।"

"श्यामू सब जानती थी।"

"क्यों नहीं। जब मैं अपने चित्र बनाया करता था, वह बहुत छोटी-सी थी। सुना, कहीं से उसकी माँ मुझे उठा लायी थी। पिता मेरा कौन था और माँ, वह सब तो आज भी केवल एक भेद ही है। श्यामा की माँ ने सिर्फ़

इतना ही सुनाया था कि एक सुन्दर-सी गद्देली में रुई की मुलायम तहों के बीच, उसने मुझे पाया था। साथ में अनजान किसी नारी के अक्षरों में लिखी एक चिट्ठी थी, जिसमें मेरी रक्षा की पुकार मनुष्य और देवता से की गयी थी। उस चिट्ठी के कई अक्षर मेरी दयालु माता के आँसुओं से मिट चुके थे।"

"बड़ा अकर्तव्य था वह।"

"नहीं शायद मेरी माँ ने सिर्फ़ 'सेण्टिमेण्ट' (भावना) में बहकर यह ग़लती की होगी। फिर अपने उस प्रेमी का 'तोहफ़ा' नौ महीने हिफ़ाज़त से सँवारे रही। यह लोभ सही हो सकता है। लेकिन एक दिन असमर्थ अपने को उसने फिर पाया। यह भी एक बात हो सकती है कि पहले मेरी माँ ने मुझे मिटाने की कई कोशिशें की हों और फिर लाचार हो गयी हो। एक दिन चन्द मिनट में, मैंने यह सब बातें सोची थीं और फिर बिसार डाली थीं। बेकार अपनी उस माँ को भी दिल में जगह देना नहीं चाहता था। जानता है, श्यामू ने क्यों मेरी परवाह करने की सोची थी ?"

"क्या कहा ?" किशोर ने असमञ्जस में सवाल किया।

"शायद इसीलिए कि मैं जीवन में अस्तित्वहीन होकर पैदा हुआ था। मेरी उपेक्षा पर श्यामू की दया उभरी थी। लेकिन मैं तो वैसी दया का भूखा था नहीं। इसी

लिए समझ के आते ही मैंने श्यामू और उसकी माँ का घर छोड़ दिया। दुनिया के बीच एक आवारा की हैसियत से प्रवेश किया। और इस शहर में आधी रात आकर जब खड़ा हुआ था, तो निपट अकेला था। शहर के सारे घर बन्द थे। मैं शहर की गलियों में चक्कर लगाने लगा। जब ज़रा जाड़ा लगता, तो मैं दौड़ने लगता था। तभी मैंने देखा था कि एक दरवाज़े से कोई आदमी चुपके नीचे उतरा है। मैं गली के एक ओर दुबक छुपकर खड़ा हो गया। वह आदमी एक बड़ा ऊनी गरम कोट ओढ़े था। अपना छाता खोलकर, 'टार्च' से रोशनी करता हुआ वह आगे बढ़ गया। मेरे दिल में आश्रय मिल जाने की उम्मीद हुई। मैं लथपथ भीगा भी, दबे पाँव चुपके ऊपर चढ़ गया। कहीं कोई रुकावट नहीं थी। टटोलते-टटोलते एक कमरे में जा पहुँचा। नीली बिजली की रोशनी हो रही थी। और मैंने देखा था; अर्द्धनग्न एक युवती पलँग पर लेटी सोयी हुई थी। सारा शरीर क़रीब-क़रीब नग्न था। अजीब एक छी-छी-छी मन में उठी। फिर भी एक बार उसे देखा ही। अपने को पकड़, धीरे-धीरे आगे बढ़कर, मैंने एक ओर पड़ी सुन्दर ऊनी चादर उठानी चाही थी कि उसने आँखें खोलीं। मैं भयभीत होकर जल्दी-जल्दी नीचे उतरा और इधर-उधर चक्कर काटता रहा कि सुबह हो आयी।"

रामू अब चुप हो गया। कुछ देर बाद पूछा—"कोई

भरी हुई सिगरेट है। कुछ नशा-पानी तो चाहिए। भारी थकान लग गयी है।"

किशोर ने सिगरेट निकाल ली। उसकी कुछ तम्बाकू हथेली पर निकाला। उसमें एक छोटी-सी सुलफे की गोली रख दी। दियासलाई बाल गोली को गरम किया और हथेली पर तम्बाकू को खूब मलता रहा। सिगरेट में उसे भरा और रामू को दे दिया।

रामू ने सिगरेट मुँह से लगा ली, सुलगाकर पीता रहा और पीने के कुछ देर बाद बोला—"कुछ भी हो, श्यामू के प्रति मुझे स्नेह है। उसे भुला नहीं सकता हूँ।"

"और उसी श्यामू की चिट्ठी का निरादर अभी कुछ देर पहले तुमने किया है।"

"वह उसी की भावुकता की वजह से। वह न-जाने किस तत्त्व की बनी है कि अपने ऊपर मेरा मोह समेटे है। कभी-कभी उसकी बातें मैंने सोची हैं। फिर जिस तरह दुनिया में छूटी बातें भूल जाने को सोचता हूँ, उसकी बातों पर यह नियम लागू नहीं कर पाता हूँ। सुनो न, एक दिन की बात है। उसकी शादी से चार साल बाद की। मैं उसके घर गया था। खट-खट, खट-खट....सीढ़ियाँ चढ़कर मैं ऊपर पहुँचा और उसके 'प्राइवेट' कमरे में घुस गया। श्यामा आइने के आगे खड़ी कपड़े बदल रही थी। अपने शरीर, विचार, भावना सबमें अस्तव्यस्त, लापरवाही में कुछ

गुनगुना रही थी। उच्छृङ्खलता का वह नज़ारा भूला नहीं जा सकता है। किन्तु श्यामू ने अपनी तेज़ घूरती आँखों से आइने में, मेरी आँखों को पकड़ ही लिया। साक्षात् वह न होना चाहती थी। अवाक्, लाचार, शर्मिन्दा होकर मैं नीचे गोल कमरे में आकर बैठ गया। बड़ी बेचैनी मन में थी। अपने इस कृत्य के लिए अपने को बहुत धिक्कारा। न-जाने आँखें मूँदे क्या मैं सोच रहा था कि पायजेबों की एक भीनी आवाज़ कमरे के भीतर आयी और कहीं पास आकर रुक गयी। जानकर भी कि वह है, मैं अनजान बना आँखें बन्द किये हुए था। सोचे था कि इम्तहान की एक भारी तह खोलकर श्यामू मुझे नीच घोषित करेगी।

'रामू बाबू...।'

"मैंने आँखें खोल दी थीं। वह बचपन की गँवारू लड़की न-जाने कहाँ से अपने को सँवार लेने की अक्ल पा गयी है। श्यामू ने झुककर मेरे आगे माथा टेका और चरणों की धूल अपने माथे से लगा ली। मैं उसे रोक लेना चाहता था। बचपन में हमारा दोस्त का सम्बन्ध रहता था। हम एक-दूसरे को 'मित्र' ही कहा करते थे। एक का दूसरे के आगे झुकनेवाला कोई भी नाता हमने नहीं छाँटा था। कह फिर भी मैं कुछ नहीं सका था।"

'आशीष भी नहीं दी।' श्यामू मुसकराते बोली थी।

"क्या ठीक, तुम्हारी उम्र बड़ी हो।" मैंने अचकचाहट में कहा।

'झूठ—? वही बचपनवाली आशीषें दो न। तू मर जावेगी। तुझे खड्ड में गाड़ आवेंगे।'

"मेरे पास इस सबका कोई भी जवाब नहीं था। तभी मैंने देखा था कि नौकरानी प्रम्बुलेटर में एक बच्चे को लेकर आयी है। श्यामू ने बच्चा उठा लिया था। उसको उसने खूब-खूब चूमा। और मैंने भी जीवन की सारी चुकी सामर्थ्य को बटोर, बच्चे को श्यामू की गोदी से ले लिया था। खूब सुन्दर बच्चा था वह। बड़ा लुभावना, बहुत प्यारा। और मेरे पास न रहकर वह फिर श्यामू के अधिकार में जाने के लिए छटपटाने लग गया। श्यामू ने काफ़ी मना बुझाकर उसे मेरे पास रहने को बाध्य किया। बच्चा बार-बार अपनी माँ की ओर देखता था और तब कहीं एक बार जाकर मुझे। अपनी माँ और मेरा एक नया सम्बन्ध जैसे कि वह छाँट लेना चाहता था। तभी बच्चे ने एक बार माँ की ओर देखकर कहा—'छी! छी....!!'

मैं कुछ भी बात समझ नहीं सका। श्यामू बोली—'उसे नीचे उतार दो।'

"मैं चुप ही रह गया था! क्यों बच्चे को नीचे उतारता। और बच्चे ने इतमीनान से अपनी 'सावधान' की छी-छी

का पहला सबक पढ़ाकर, मेरे कुर्ते और धोती को तर कर दिया था। मैं शर्मिन्दा हो गया। श्यामू सिर्फ़ हँस दी, दौड़ी-दौड़ी एक तौलिया ले आयी और एक रङ्गीन साड़ी। बच्चे को लेकर नौकरानी बाहर चली गयी थी। श्यामू ने मुझे साड़ी सौंप कहा—'बदल लो।'

"श्यामू धोती या साड़ी मुझे सौंप दे, यह सब अधिकार कब उसे था : साड़ी लौटाते मैंने कहा—'यह मेरा भाग्य कहाँ?'

"भारी एक चोट जैसे कि उसे मैंने पहुँचायी थी। वह तिलमिला उठी और तेज़ होकर बोली—तभी किसी गृहस्थी के घर में पैठ, इतनी स्वतन्त्रता से भीतर घुस जाना सीख गये हो।"

'उस भारी अपराध का तो कोई उपचार अब नहीं है। और माफ़ी यदि माँग लूँ, तब भी उपयुक्त दण्ड वह नहीं होगा।'

'मुहल्लेवालों से रोज़ ही न सुनती हूँ—तुम्हारे सारे दास्ताने : आवारा और लोफ़रों के बीच चलते हो। गन्दी-गन्दी गलियों में रात काटते हो। कुछ भी तो....।'

'सब बातें ठीक हैं। लेकिन तुम अपना इतना अधिकार मान क्यों चाहती हो कि मेरी बातों की हिफाज़त करो। उचित तो उस सबको बिसार देना ही होगा। बेकार क्यों उन सारी बातों पर दलील कर मन में मैल जमा किया जाय। उसकी उपेक्षा तो सहनीय है।'

'और सुना था, एक दिन चौरस्ते की गली के बीच शराब पीकर तुम पड़े थे। तुम्हारे कुछ दोस्त तुमको उठाकर नहीं ले जाते....'

'यही न खात्मा हो जाता। अभी कुछ ही दिनों की बात तो है कि हमारे एक दोस्त पीकर ऐसे गली में सोये कि शृगालों की एक टोली ने उनको....'

'यही सब सोचना तो अब तुमको बाक़ी है। भली बातों का रास्ता तो....'

'उस रास्ते से भला मैं कब चला। याद नहीं है वह रात, जब कि तुम्हारी माँ ने तुमसे कहा था—रामू अच्छा है बेटी। लेकिन जिसके माँ-बाप का पता नहीं, उस आवारे के साथ, तू इतनी घुल-मिलकर न रहा कर। तभी उस रात्रि को मैंने तुम्हारा वह घर छोड़ दिया था। आश्रयदाता का अपमान बनकर भला मैं कैसे रहता।'

'मुझसे पूछकर तुम गये थे, जो आज वह सब सुनाने आये हो।'

'तब क्या एक अस्तित्वहीन आवारे के साथ, जिसका दुनिया और समाज में कोई स्थान नहीं था, चलने में तुमको ख़ुशी होती। क्यों बेकार परेशान हुआ करती हो। अवहेलना दुनिया का सबसे बड़ा शस्त्र है। वही मैंने सीखा है! तुमको भी आदत पड़ जावेगी।'

''श्यामा कुछ जवाब नहीं दे सकी थी। तभी मैं बोला

था—जिस तरह अपने मन पर अविश्वास कर तुमने एक दिन सारी चूड़ियाँ बाहर सड़क पर दुनिया के लोगों के लिए कुचलने को छोड़ दी थीं, क्या वह तुम्हारा पति के प्रति एक ग़लत विद्रोह नहीं था ?"

'वह न सुनाओ, यह कहो कि आज कल तुम क्या कर रहे हो।'

'क्या—? वही जो तुमने सुनाया है। अँगरेजी में इसे Intellectual Loaferism कहते हैं, और हिन्दी में बौद्धिक आवारा-गर्दी कहा जा सकता है।'

'चित्र बनाने....।'

'छूट चुके। दुनिया के मचलते 'टेस्ट' का साथ देने में मैं असमर्थ रहा हूँ।'

'फिर अब....'

'ठिकाना मिल ही जाया करता है। इतने दिनों बाद आने के लिए दुःख न मानना। क्यों बेकार दुःख मोल ले लिया जाय। पति है, बच्चा है, भाग्यवान् हर तरह से हो। इतना सब कुछ हर किसी को थोड़े ही मिलता है। कर्ता से लड़ने की ठानना बेकार बात है। यह काम पुरुष के लिए है।'

'यह सब कैसे सीख गये।'

'दुनिया ने सिखलाया।'

'अब आगे....?'

'खुली वही सड़क है। वही चौरस्ता ! रोक-टोक करने-वाला कोई भी नहीं है। फिर उचित रास्ता ढूँढ़ लेना भी मैं सीख गया हूँ।'

'लेकिन याद है एक बात।'

'कौन-सी।'

'वह दिवाली के दिन....।'

'न याद दिला श्यामू उसे। चित्र बनाकर तुझे दूँगा, एक खूब सुन्दर-सा। कब तक, कह नहीं सकता। दूँगा और ज़रूर ही दूँगा।'

'रामू ?'

'वह दिवाली की रात। अनजान थे तब। उतने खील बताशे लेकर लक्ष्मी-पूजन करने का दावा हमने किया था। उस नासमझी में एक मस्ती थी।'

'रामू ! रामू !! न सुना वह सब। नहीं-नहीं !'

'उस नादानी में उस रात जीवन का एक भारी जुआ खेलकर एक चुम्बन....।'

'ओ, रामू-रामू....।'

'ठीक, असभ्य हूँ आज। एक आवारा। अन्यथा वह घटना क्यों याद दिलाता। अच्छा श्यामू.......।'

'जा रहे हो ?'

'हाँ-हाँ।'

'कहाँ ?'

'वहीं, गन्दी-गन्दी गलियों में। उन अपने लोफर दोस्तों के साथ। वहीं, जहाँ रहना सीख गया हूँ।'

'मत जाओ तुम, दुनिया में ! गृहस्थ !!'

'श्यामा !'

"श्यामा अपनी सारी सामर्थ्य के बाहर फूट-फूटकर रो रही थी। फ़र्श पर फैले उन आँसुओं के धब्बों को कुचल-कर ही मैं चला आया था।"

किशोर ने फावड़ा ले लिया। बोला—"अब साव-धान। इसके बाद !"

"पाँच साल पुरानी यह बात है। कौन जाने श्यामा ज़िन्दा है या मर गयी। मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं। इस बीच इतनी फ़ुरसत भी तो नहीं मिली कि एक सुन्दर चित्र बनाकर भेज सकता।"

फिर पानी ज़ोर से बरसने लगा। किशोर ने सावधान करते कहा—"ठहरना।"

"क्या है किशोर ?"

"बस ! बस !!"

"और किशोर, मनोरमा के उस नग्न शरीर का अक्सर मैंने श्यामा के उच्छृङ्खलता-पूर्ण बिखरे सौन्दर्य से मुक़ाब' किया है।"

"मुक़ाबला किया !"

"हाँ, मनोरमा को उस रात्रि नग्न देखने के बाद, अगली सुबह मैं गङ्गा के पास एक ऊँचे पत्थर पर बैठा हुआ, गङ्गा में कंकड़ियाँ फेंक रहा था। बड़ी देर तक बैठा ही रहा। दुप-हरिया हो आयी थी। तभी मैंने देखा कि एक युवती आकर मेरे पास खड़ी हो गयी। मैं उसे देखकर चौंक उठा। वह सावधानी से मुझे खूब पहचानकर बोली थी—कल रात आप मेरे कमरे में आये थे।"

'मैं....!'

'ऐसा अन्दाज़ लगा पाती हूँ। वैसे भूल हो सकती है।'

"अपनी ग़लती समझ मैंने माफ़ी माँग ली थी। मैंने उसे ख़ूब पहचान लेना चाहा था। अब तो वह गुड़िया-सी सजी और खिली थी। कितना भारी अन्तर था उन दो रूपों में। तब से ही मनोरमा का घर मेरी एक छोटी सराय बन गया।"

"सराय ?" किशोर ने बात को सवाल बनाकर पूछा।

"और मनोरमा से वास्ता मुझे क्या था। वह अपनी रूप की दूकान सँवारती, चलाती थी। कभी-कभी दुनिया से बहुत थककर मैं भी वहाँ विश्राम ले लिया करता था।"

"रामू दादा !"

"क्या है किशोर।"

"सावधानी से ! सावधानी से !!"

देखते-ही-देखते, उन दोनों ने एक रमणी की नग्न लाश ऊपर निकाल ली थी।

उस लाश को रामू ने खूब देखा, बोला—"लगता है कि यह मनोरमा गहरी नींद में सोयी है। अक्सर मैंने इसे इसी तरह सोने से कई बार जगाया था। इस शरीर को आखिर यों ही ठुकरा दिया जाता है।"

"कल साँझ तक तो रामू यह अच्छी थी। आधी रात तक गाना गाती रही। फिर एकाएक सुबह कालरा हुआ और अन्त में यहाँ गाड़ दी गयी।"

"देख लिया इसे अब किशोर। दियासलाई तो बाल।" कुछ देर खूब देखकर—"कहीं कुछ भी अन्तर नहीं। वैसा ही रूप है। अच्छा, अब इसे यों ही सोयी रहने दो। मुझ में भी उसको नींद से जगा लेने की सामर्थ्य नहीं है। एक और सिगरेट बनाना। कँपकँपी लगने लगी है।"

किशोर ने सिगरेट बना ली। रामू ने खूब दम लगाया। फिर दोनों ने उस लाश को वहीं रेत में दबाया। रामू बोला—"दूसरा आश्रय अब ढूँढ़ना पड़ेगा।"

किशोर ने रामू की ओर देखा। कुछ समझ में बात नहीं आयी।

दस साल बाद रामू ने श्यामू के पते पर एक चित्र भेजा था :

'एक युवती रेत पर लेटी हुई थी, ऊपर उसे कुचलती, गोद में बच्चा लिये, सरपट दूसरी युवती आगे एक युवक के पास बढ़ रही थी। कुछ दूरी पर एक इमारत उजड़ रही थी। कंकड़, चूना, ईंटें फैली-फैली थीं........।'

रुकमणी के घर

उस साल, अपने जीवन के दुःख और निराशा से उकताकर, घर छोड़ अपने-परायों से दूर रहने की ठान ली थी। दूर, एकान्त में अपने-से-अपने तक सीमित भर मैं रहना चाहता था। पहाड़ों के गाँव-गाँव जाकर वहीं के लोगों में घुल-मिल भूल की एक गिनी गिनती में अपने को लाने की धुन में था। मेरे साथ एक नौकर था। उसके पास मेरा 'हॉलडाल' और छोटा सूटकेस रहता। जिस किसी भी गाँव में मैं जाता, वहाँ के मुखिया के घर डेरा डाल देता। पहाड़ों के लोग स्वभावतः ही भोले होते हैं। प्रकृति उन लोगों के जीवन को सहानुभूति, शिष्टाचार और सभ्यता से स्वतः पूरित कर देती है। प्रत्येक गाँव में दो-चार दिन रहकर मैं अपना जी स्थिर कर लेना चाहता; पर जो अशान्ति मेरे जीवन से खेल रही थी,

वह हटती न थी। इतना ही नहीं, मैं तो यह भी पूर्ण अनुभव कर रहा था कि वह भार आये दिन असह्य होता जा रहा है। चिन्ता से उद्विग्न अनासक्त मन कहीं भी टिका नहीं। हृदय की आन्तरिक पीड़ा को बाह्य शान्ति कहाँ छू पाती थी ? इसी प्रकार ऊब-ऊब, न जाने कितने गाँवों में बसेरा कर, उनको छोड़ा होगा। मैं इधर से उधर ही भटकता रहा।

पहाड़ी गाँवों का जीवन एक अपनी ही संस्कृति है। वहाँ के वातावरण की भावमय सजीवता, वहाँ के लोगों का सीधापन, वहाँ की रमणियों का एक भोला व्यापक सौन्दर्य, वहाँ के बच्चों का हठ; एक निराली वास्तविकता की पूर्ण निधि है। कितना सात्त्विक, पवित्र और पूर्ण ! वहाँ के गाँव छोटे-छोटे मकानों के गिरोह होते हैं। कहीं तो पहाड़ों की चोटी पर, कहीं पानी के गधेरों * के किनारे, कहीं नीचे पहाड़ों की तरेटी में, दूर से झुरमुटों के बीच छुपे वे गाँव खिलौने से लगते थे। उनकी छतें पत्थर से छायी और दीवारें सुफेद पहाड़ी मिट्टी से पुती रहतीं। सजावट के तौर पर दीवारें नीचे एक गज लाल मिट्टी से पुती रहती थीं। कभी-कभी गाँव के झरनों के पास मैं पाता वहाँ की रमणियों की आहट। कैसी स्वच्छन्दता से वे प्रश्नों का उत्तर देती थीं—बनावटी लज्जा से मुक्त सी।

* पहाड़ी कुदरती नाला

कितनी स्वतन्त्रता से वे मुस्कराती थीं, बोलती थीं, आपस में ठठोली करती थीं। कभी-कभी मैं देखता, पहाड़ी की दुरूह बटिया पारकर, ऊँचे दुर्गम स्थानों से उनका घास काटना। कभी-कभी वे घास के गट्ठों को सिर पर धरे गाँव की ओर मधुर गीत गाती बढ़ती थीं। कितनी मादकता थी उन गीतों में? वहाँ के जीवन में जी ठहरने को करता था; पर मन में जो उलझन थी, वह घनी व्यथा बनी टिकने कहाँ देती थी? दुःख और वेदना के संघर्ष में डूबा, मैं इतना थक गया था कि ठगा-सा चला जाता था।

एक लम्बी मंज़िल पारकर भटकता-भटकता एक दिन मैं एक गाँव में पहुँचा। ऊँची पहाड़ी पर वह गाँव बसा था। गाँव के सबसे ऊपरवाले मकान से ही नीचे तक के सब मकान गिने जा सकते थे। गाँव के दाँयें-बाँयें पानी के झरने थे। गाँव के झरने के पास पहुँचकर मैंने देखा, रमणियाँ पानी की गगरियाँ भर रही थीं। सन्ध्या होने को थी। मैंने एक युवती से प्रधान के घर का पता पूछा। वह मेरा दूर का रिश्तेदार था। उस युवती ने सुनाया कि प्रधान घर ही पर है। वह युवती पन्द्रह-सोलह साल की होगी। काली-काली मोटी धोती, मारकीन का रंगीन कुरता और ऊपर से मखमल की साधारण वास्कट पहिने थी। कानों में चाँदी की बड़ी-बड़ी मुरकियाँ और गले में मोटी चाँदी की हँसुली थी। आगे कि मैं कुछ और पूछूँ, वह

अपनी गगरी उठाकर चली गयी। उस युवती ने मुझपर एक गम्भीर प्रभाव डाला।

और फिर मैं प्रधान के घर पहुँचा। मुझे आया देखकर वे प्रसन्नता से फूल उठे। सन्ध्या से रात्रि हो आयी थी। मेरा नौकर खाना लाया। मैं थका-माँदा था ही, फिर नींद से ज़रा झगड़ सो गया।

प्रातःकाल हुआ। गाँव दैनिक चर्या में रमा। रमणियाँ, नहा-धो, कलेवा कर, घास-लकड़ी लाने जंगल चली गयीं। लोग खेतों की देख-भाल में जुट गये। मैं उठा, लोटा, तौलिया, धोती, बनियान, सोप-केस निकाल, 'टूथ-ब्रुश' से दाँत साफ करता-करता झरने की ओर बढ़ा। राह में मैं देख रहा था, खेतों में सुफ़ेद-सुफ़ेद गेहूँ की डराठलें सूखी खड़ी थीं। गेहूँ कट गये थे। झरने की ओर बढ़ ही रहा था कि देखा—आगे दो युवतियाँ जा रही हैं। एक वही थी, कलवाली युवती। कौतूहल दबा, चुपचाप उनके पीछे-पीछे चल रहा था। वे आपस में बातें कर रही थीं। पहली ने पूछा—"रुकमणी, कल तुम्हारे यहाँ कौन आया है?"

"मुझे मालूम नहीं। बाबा कहते हैं, दूर के रिश्तेदार हैं। बड़े आदमी हैं। बाबा इनके घर अक्सर जाया करते थे। सुना, कालेज़ में पढ़ते थे। इधर झक सवार हुई, गाँव गाँव घूम रहे हैं।"

"तू क्या बोलेगी?"

"अभी रिश्ता नहीं छूटा ।" रुक्मणी ज़रा मुस्कराती बोली ।

तो रुक्मणी उस युवती का नाम है । बातें चल ही रही थीं :

"कब तक रहेंगे ?"

"क्या मालूम । अभी-अभी चाय बनाकर दे आयी हूँ । अब खाना बनाना है, इसीलिए घास को न जा सकी ।"

पानी के झरने के पास पहुँच गये थे । मैंने कपड़े एक ओर रख दिये । अब रुक्मणी से आँखें चार हुईं । वह ज़रा सकुचायी । मैं चुपचाप ब्रुश से दाँत साफ़ कर रहा था ।

एकाएक रुक्मणी पास आयी । बोली—"आप नहावें ।"

मैंने कहा—"नहीं, आप पहले पानी भर लें । मेरा क्या ? नहाना, खाना और सोना—दिन-भर में तीन ही तो गिनती के काम हैं ।"

वह चुपचाप पानी भर अन्य रमणियों के साथ, मन्थर गति से गाँव की ओर चली गयी ।

नहा-धोकर मैं घर पहुँचा तो रुक्मणी आयी और एक तश्तरी पर नाश्ता और पानी रख गयी । मेरे कितने ही ना-ना करने पर भी वह मानी कहाँ ? प्रधान खेत की देख-भाल करने चला गया था और रुक्मणी पर ही अतिथि का सारा भार सौंप गया । मैं चुपचाप खाने लगा । रुक्मणी उलाहना-सा देने पर तुली—"रास्ते में आपने हमारी

सारी बातें चोरी से सुन लीं। यह अच्छी बात थोड़े ही थी।"

गायें खुल गयी थीं। रुक्मणी गायें खोलने चली गयी। फिर लौटकर आ कहने लगी—"यहाँ पाँती से गायें खुलती हैं। आज हमारी बारी थी लेकिन मैं न जा सकी।" कह, गिलास-रिकाबी उठा बाहर चली गयी।

मैं सोचने लगा—यह रुक्मणी क्या है? जीवन के चौदह-पन्द्रह साल काटकर भी अभी बालिका ही है—सादगी से भरी, संसार से अनभिज्ञ, अबोधता से खेलती। उससे मुझे ज्ञात श्रद्धा हो रही थी, जो अज्ञेय न थी। पिता के समीप रहकर ही, वह उसका सारा स्नेह अपने में बटोरे है। उसके यही बेटी है, यही बेटा है। माँ उसकी नहीं।

खाना खाकर दिन में गाँववालों के साथ 'डिटो' खेल रहा था। सामने तिबारी में अपनी कुछ सङ्गिनियों के साथ रुक्मणी बट्टियाँ खेल रही थी। आख़िर पार्टी उठी। मैं चुपचाप आराम करने लगा। अचानक एक आहट हुई। कोई कमरे में आया। फिर आवाज़ आयी, "सो गये?"

मैं कहाँ सोया था। रुक्मणी आयी थी। मैंने मुँह पर से चादर हटा एक ओर रख दी। वह एक दोने में कुछ पहाड़ी फल लायी थी। पास रखकर बोली—"तुम्हारे यहाँ तो कम मिलते होंगे।"

मैंने कहा—बाज़ार में बिकने कभी-कभी आ ही जाते हैं।

मैं चुपचाप खाने लगा। वह बोली—"एक जोड़ा ताश हमको दे दो; हम भी खेलेंगे।"

मैंने चुपचाप सूटकेस खोला और वह ताश लेकर ख़ुशी-ख़ुशी चली गई।

एक दिन सन्ध्या को मैं घूमने निकला। ऊँची पहाड़ी पर चढ़ा आस-पास के गाँवों की ओर देख रहा था। बड़ी दूर तक। अपने गाँव की ओर देखा, ग्रामीण रमणियों की एक क़तार गाँव की ओर बढ़ती दीख पड़ी। उनमें पाँचवें नम्बर पर मैं रुक्मणी को पहचान गया।

उसी रात्रि को मैं खा-पीकर सोने की फ़िक्र में था। चुप-चाप किताब एक ओर रख, लालटेन मन्दी कर रहा था कि रुक्मणी दूध का गिलास लिये आयी। बोली, "आप कैसे हैं, दूध नहीं पीते ? लो पी लो।" फिर उसने धोती की बँधी गाँठ खोली। उसमें से काग़ज़ का पूड़ा निकाला और देते हुए बोली, "कल ज्ञानू की बहू आयी थी। आज यह बँटा है। दिन को देना ही भूल गयी।"

मैंने कहा—"मेरा जी कुछ खाने-पीने को नहीं कर रहा है।"

पर वह तो अनसुनाकर बाहर चली गयी।

कुछ दिन और कटे। उस गाँव में रुक्मणी में मैंने वह तत्त्व पाया जो मेरे मन को ज़रा स्थिर कर लेने को तुला था। रुक्मणी की एक बात, एक ही हठ, एक ही प्रश्न से

म अपने जीवन की पूर्णता पा जाता। वह मुझे कितने प्रेम और श्रद्धा से खिलाती थी। एक दिन गायें चरा लौटकर आयी तो बोली—"देखो जी, कितनी भीग गयी हूँ और पाँव भी दुख रहा है। लो तो, मेरे पाँव का काँटा निकाल दो।"

पानी से पाँव का तला धो, सेफ्टीपिन वास्कट से निकाल मेरे हाथ पर रख दी। मैं क्या कहता। एक अज्ञात प्रेरणा सुझा रही थी कि यह लड़की कब समझेगी कि दुनिया की व्यावहारिकता क्या है? फिर चुपचाप काँटा ढूँढ़ने लगा; लेकिन मिला नहीं। वह मुसकरा, पाँव छुड़ा, बोली— "देखो यह है न नीली-नीली झाई। यहीं तो है झड़बेरी का काँटा।" और चुपचाप निकालने लगी।

मैंने कहा, "मैं निकाल दूँगा।" और चुपचाप पिन से काँटा हिलाया कि वह पाँव हटा बोली—"वाह, खूब निकालोगे। इस तरह भी कहीं निकाला जाता है। बड़ी पीड़ा होती है।" और फिर अपने-आप निकाल डाला।

उसी सन्ध्या को आसमान ज़रा साफ़ हो आया था। पहाड़ों में गायें बरसात और गरमी में खेतों पर ही बाँधी जाती हैं, ताकि गोबर इधर-उधर ले जाने की दिक्कत न रहे। अलग-अलग खेतों में बारी-बारी से बाँधी जाती हैं। हर एक किसान अपने खेतों में पशुओं के साथ दोनों ओर पत्तों की बनी दीवारें अटका, तम्बू-सा बना सोया करता है।

सन्ध्या को एक खेत में खूँटे गाड़े जाते हैं और सुबह को उखाड़ लिये जाते हैं।

मैं घूमने जा रहा था। चुपचाप कुछ सोचता-सा कि किसी ने पुकारा। रुक्मणी का स्वर था। देखा, नीचे एक खेत से रुक्मणी बुला रही है। कमर में धोती का फेटा बाँधे, नङ्गे सिर खूँटे गाड़ रही थी। खेतों को फाँदता-फाँदता मैं उसके पास पहुँचा। वह खूँटा गाड़ती, मेरे पहुँचते ही मुझसे बोली—"लो, तुम भी गाड़ो; फिर गायें बाँधेंगे।"

और मैं चुपचाप खूँटे गाड़ने लगा। गाड़ते-गाड़ते मेरे हाथों में छाले पड़ गये। मैं अपने हाथ देख रहा था। वह पास आयी। हाथ देखकर बोली, "ओफ़, छाले पड़ गये! मैं भी कैसी हूँ।" फिर हाथ पकड़कर कहा, "माफ़ी दे दो।"

मेरा हृदय कुछ कह देना चाहता था। फिर भी मैं चुप रहा। बड़ी देर तक अपने हृदय को नारी अनुभूति में डुबो मैं ज़रा सँभला।

उसी रात्रि को सो रहा था। किसी ने जगाया—"उठो? उठो??"

वह रुक्मणी थी। रुक्मणी बोलने लगी, "अपनी वह बिजुली की बत्ती देना। पानी बरसने लगा है। गायें घर लानी हैं।"

कैसी है यह रुक्मणी, मैंने सोचा। टार्च सिरहाने से उठाया। ठट्ठा करने-सा उसके मुँह पर प्रकाश डाला। देखा—रुक्मणी! कितनी अस्त-व्यस्त थी वह। बाल बिखरे थे, सोने से जगी आँखें, और लगती थी कितनी सुन्दर! मैं चुप नहीं रह सका। आज तक की सारी सँवारी बात आगे आयी। बिलकुल आगे। एक व्यापक भाव में उसे दबाने का अधिकार खो बैठा। उसका हाथ पकड़ कुछ कहना चाहता था; पर नहीं कह सका। साहसकर ज़रा कहा—"तुम देवी हो। रुक्मणी, मैं तुमसे प्रेम करता हूँ............"

यह क्या? रुक्मणी चुप थी। चुप ही। रुक्मणी बिलकुल चुप थी। मैंने हल्के से रुक्मणी को अपने वक्षस्थल से लगा, उसका माथा चूम लिया। वह कहाँ कह सकी कुछ। सारी नारी लज्जा में भीगी थी। कहा उसने, धीमे-धीमे स्वर में—"क्या कह रहे हो यह। अब मत कहना हाँ....!" फिर ज़रा देर चुप रही और बोली, "ओफ़ पानी बरस रहा है। मुझे जाना है।" कह छूट बाहर चली गयी।

"रुक्मणी! रुक्मणी!! अकेले मत जाओ। मैं भी आ रहा हूँ।" मैं चिल्लाया।

"नहीं-नहीं, बाबा नाराज़ होंगे। तुम बीमार पड़ जाओगे।"

वह अन्धकार में खो गयी। मैं चुपचाप अन्दर चारपाई में कुछ सोचता लेट गया।

अगले दिन बड़ी सुबह मेरी नींद टूटी। नीचे के कमरे से दही मथने की आवाज़ साफ़-साफ़ सुनाई दे रही थी। मैं नीचे उतरा। देखा, रुकमणी मग्न, चुपचाप गुनगुनाती धीमे-धीमे स्वर में गाती दही मथ रही थी। बड़ी देर मैं खड़ा-का-खड़ा ही उसे देखता रह गया। फिर कुछ सोच, चुपचाप उसके पास पीछे पहुँच आँखें मूँद लीं। पहले तो वह चौंकी, फिर ज़रा सँभल बोली—"श्यामा भाभी छोड़ दो।"

श्यामा उसकी अन्तरंग सहेली है। दोनों हमेशा साथ-साथ रहती, सोती, खाती-पीती हैं।

मैं चुप रहा।

अब उसने टटोला और ज़रा गुस्से में बोली—"छोड़ दो जी, जब देखो ठट्ठा....!"

मैं फिर भी आँखें मूँदे ही रहा। तो वह बोली—"मत छोड़ो ।" फिर ज़रा ठहरकर, "कोई देख लेगा तो क्या कहेगा।"

मैंने उसे छोड़ दिया। वह दही मथती रही।

मैंने कहा—"रुकमणी, अब मैं मथूँगा।" बस उसके हाथ से डोरी ले ली और चुपचाप मथ लेना चाहा। लेकिन कुछ भी तो न मथ पाया। वह हँसती बोली, "तब तो

ज़रूर मक्खन लगेगा।" और डोरी लेकर मथते-मथते कहा—"इस तरह मथा जाता है जी।" अपनी ही एक गति से मथती रही।

मैंने कुछ सोचकर कहा—"रुक्मणी, कल तो तूने दही खाने को नहीं दिया।"

"ठीक तो किया मैंने। ऐसा करने से दही नहीं जमता, इसीलिए तो—"

बहुत सोच-विचारकर मैं बोला—"रुक्मणी, कोई देख ही लेता तो क्या होता! सुनो, मैं जान रहा हूँ कि तुम्हारे बिना मैं नहीं रह सकता। तुम तो देर से मिली। पहले मिल जाती तो इतना भटकना न पड़ता। जिन्दगी में एक बात ज़रूरी है—वह है प्रेम। तुम नहीं जानती। कल मेरे चले जाने पर क्या तुमको कुछ अधूरा नहीं लगेगा? क्या तुमको मेरी याद नहीं आवेगी? तुम मेरे नज़दीक क्या नहीं रहना चाहती हो? क्या कल तुम मुझे भूल सकोगी? रुक्मणी बोलो! बोलो रुक्मणी!!"

रुक्मणी चुप सुन रही थी। चुप रही—चुप ही।

"रुक्मणी, तो मैंने झूठ समझा। मैं बड़ा अभागा हूँ...।"

रुक्मणी कहाँ मथ रही थी। स्थिर थे हाथ। वह खड़ी की खड़ी थी। अचल, ठगी, अपने में समायी, भूली ही, ठिठकी........

"रुक्मणी ?"

रुक्मणी बोले कैसे । क्या कहेगी वह ? वह भूल में ही लीन थी ।

"रुक्मणी ?"

नहीं बोलेगी रुक्मणी । वह चुप, ठीक तो है ।

"रुक्मणी ? रुक्मणी ??" मैं उद्विग्न हो बोला ।

रुक्मणी ने अब एक बार पूरी खिली आँखों से मुझे देखा । उसकी पलकें भीगी थीं ।

कुछ देर में रुक्मणी ज़रा सँभली । डरती, काँपती बोली, "तुम जाओ, जाओ । अब जाओ, बाबा जाग गये होंगे ।"

मैं चुपचाप ऊपर आया । कितना ख़ुश था । लगता—एक नया जीवन पा गया हूँ ।

फिर मैंने देखा, रुक्मणी पास नहीं आयी । आती कहाँ थी ? डरती थी । मैंने उसका सारा अन्तर भाँप लिया । चाय वह नहीं लायी । उसका स्वर दूर से सुनकर एक गुद-गुदी होती थी । खाना खाने मैं उसके पिता के साथ बैठा । वह वहाँ भी गम्भीर बनी सिर झुकाये थी । ज़रा कनखियों से देखती, चार आँखें होतीं और बस लाज से गड़ जाती ।

उस दोपहर को एकान्त में मैंने रुक्मणी को आख़िर पकड़ लिया । उसका पिता पास के एक गाँव चला गया था । मेरा नौकर भी सो रहा था । मैंने देखा, रुक्मणी ने गरम पानी से सिर धोया है और धूप में बाल सुखा रही थी ।

मैंने चुपके पीछे से जाकर उसके बालों का गुच्छा पकड़ लिया और उसे खींचकर कमरे में ले आया।

मैंने कमरे में अपना सूटकेस खोला! वह चुपचाप देख रही थी। मैंने कहा—"आज गरम कपड़े धूप में सुखाऊँगा, तू मेरी मदद करेगी न।"

उसने हाँ भरी।

मैं कपड़े देने लगा और वह बाहर डोरी पर उनको डालती रही। एकाएक उसके हाथ मेरे फोटो का 'अलबम' लग गया। वह उसे देखकर बोली, "एक हमको दे दो।"

"तुझे कौन अच्छा लगा।"

उसने मेरा एक 'बस्ट' पसन्द किया और ले लिया। आगे वह और फोटो देखती रही। कुछ युवतियों के फोटो भी थे। एक निकाल वह पूछ बैठी, "यह कौन है?"

मैंने कहा, "देख, यह '....' की लड़की है। मुझे फोटो दिखाने भेजा था। लेकिन मैंने ना कर दी।"

वह एकटक उसे देखकर बोली, "कितनी अच्छी है।"

मैंने दोनों को देखा। कितना अन्तर था। फोटोवाली युवती कितनी सजी थी। सौन्दर्य को पा लेने की चाहना में भरी, सुन्दर की परिभाषा में सिमटी, सकुचायी, खूब सुन्दर साड़ी पहिने थी। कानों का इयररिङ्ग, गले में सोने का लाकेट, हाथ की चूड़ियाँ और यह रुकमणी? मटमैले रंग की मोटी धोती पर काली-काली धारियों का मोटा

कुरता पहिने थी। हाथों में चाँदी के कड़े, गले में चाँदी की हँसुली, कानों पर चाँदी की मुरकियाँ। सौन्दर्य में बनावट नहीं। प्रकृति से खेलती है। उसी में समायी और खोयी रहती है। अपने को उसके बाहर नहीं पाती। दोनों नारियों को समझा—सत्य पाया रुक्मणी को। रुक्मणी अभी भी फोटो देख रही थी। आखिर पूछा, "तुमने शादी क्यों नहीं की फिर ?"

मैंने अनुभव किया कि रुक्मणी के बोलने में उपेक्षा की एक कीस है और स्पर्धा भी।

मैं इसका उत्तर नहीं दे सका।

उसी रात रुक्मणी ने आकर कहा—"हम तो कल गङ्गा नहाने जा रहे हैं, तुम भी चलोगे ?"

गङ्गा पास ही सात-आठ मील पर बहती थी। मैंने कहा, "पूछने पर इज़ाजत मिलेगी तो—"

रुक्मणी अपने पिता के पास गयी और पूछा। उसका पिता मेरे पास आ बोला, "लौटते बड़ी चढ़ाई पड़ती है। अब तो घोड़े का इन्तज़ाम भी नहीं हो सकता है।"

मैंने कहा, "ज़रा घूमने फिरने को जी कर रहा है।"

बस, दूसरे दिन झुटपुटे में ही रुक्मणी आयी। जगाती हुई बोली, "उठो जी, देर हो रही है।"

मैं आँखें मलता उठा। वह कह रही थी, "लाओ अपनी धोती, तौलिया, बनियान, साबुन का डिब्बा...."

मैंने कहा—"निकाल ले।" फिर कुछ सोच उठा। उसका हाथ पकड़कर बोला, "रुक्मणी, क्या हमारी ज़िन्दगी इसी तरह हमेशा साथ-साथ नहीं चल सकती है।"

रुक्मणी ने कुछ कहा नहीं। हाथ मुझे ही सौंपे रही। मानों कि सौगन्ध खाती सुझा रही हो—विश्वास रखना।

मैंने उस धुँधले अन्धकार में, रुक्मणी की ठोड़ी हिला पूछा—"रुक्मणी, क्या यही जीवन-भर निभेगा।"

रुक्मणी चुप थी। मूकता में कहती-सी लगती, मैं कहाँ झगड़ रही हूँ। सच तो है ही।

मैंने रुक्मणी को उस सुलझते अन्धकार में ही प्रभात वेला अपने वक्षस्थल से लगा कहा, "रुक्मणी, अब तू मेरी है।" उसका माथा चूम लिया।

फिर रुक्मणी चुपचाप बाहर चली गयी। नीचे दालान में उसकी और सङ्गिनियाँ आ गयी थीं।

डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की वह पहाड़ी सड़क नीचे की ओर नागिन-सी चलती लगी। सड़क पर चीड़ का पयाल बिछा था। कभी-कभी ज़रा हवा चलती, तो ऊँचे-ऊँचे चीड़ के पेड़ों की साँय-साँय कानों में पड़ती। सूर्य अभी दीख नहीं रहा था। फिर भी सामने उत्तर की ओर, दूर पहाड़ों की बर्फीली चोटियाँ लाल-लाल रङ्ग से रँगी थीं। हम लोग बातें करते-करते रास्ता चल रहे थे। रुक्मणी सबसे ठठोली करती जा रही थी। हँसती-बोलती कभी-कभी ज़रा मुझे

भी आँखों से छू लेती थी। नीचे की ओर हम बढ़ रहे थे। चार मील पहुँचकर देखा कि दूर-सी नाले के रूप में, काले-काले क्षितिज से घिरी नीली-नीली गङ्गा बह रही है। उसे देखकर डर लगता था। आखिर हम गङ्गा के किनारे पहुँचे। नाले में सीमित गङ्गा का पाट चौड़ा-सा आँखों को लगा। मैंने चुपचाप 'कैमरा' निकाला और कुछ फोटो ले लिये। आज न-जाने कहाँ से मुझमें एक नयी स्फूर्ति आ गयी थी। मैंने कपड़े उतारे और गङ्गा में कूदकर तैरने लगा। सब चुपचाप थे; पर रुक्मणी चिल्लायी—"लौट जाओ, यह क्या कर रहे हो।"

मैंने उसे डराने को एक डुबकी लगायी। वह चीख उठी।

बहाव की ओर कुछ आगे औरों से ज़रा दूर मैं किनारे आया। रुक्मणी दौड़ी-दौड़ी आयी। आते ही बोली, "कैसे हो तुम? यहाँ कौन तैरता है। पारसाल ही तो यहाँ दो आदमी डूबे हैं।"

मैंने मज़ाक करते कहा—माना, डूब ही जाता तो क्या था?

"चुप रहो। पर्व के दिन ऐसा नहीं कहते।" रुक्मणी की भावुक आँखों की पलकें भीगकर टपक रही थीं।

"रुक्मणी! रुक्मणी!!" मैं उलझन में-सा बोला।

रुक्मणी सिसकियाँ लेती-लेती आँसुओं में डूबी थी।

"रुक्मणी, अब ऐसा नहीं करूँगा।"

"अच्छा तो मेरी क़सम खाओ।"

"सच कहता हूँ, ऐसा कभी नहीं करूँगा जिससे तेरा जी दुखे।"

"मुझे जाने दो; पर मैं यह नहीं देख सकती।"

वहीं चट्टी पर खाना खा हम रुक्मणी के गाँव की ओर लौटे। हम अपने साथियों से ज़रा पिछड़ गये थे। राह में रुक्मणी चुपके बोली, "हमारा भी फोटो खींचो।"

मैंने कहा, "तू ज़रा पीछे रह जाना, मैं खींच दूँगा।"

राह में बड़ी थकान लग रही थी। जो जहाँ पर थक जाता, वहीं बैठता। रुक्मणी मेरे कपड़ों की पोटली बनाये, सिर पर धरे, ऊपर एक लोटा गङ्गाजल से भरा टिकाये चल रही थी। हमारे कुछ साथी आगे बढ़ गये, कुछ ज़रा पीछे छूट गये। हम मोड़ के बीच अकेले रह गये थे। अब मैंने कहा, "रुक्मणी, मैं तेरा फ़ोटो खींचूँगा; तू इस चट्टान पर बैठ जा।"

रुक्मणी बैठ गयी। मैंने तीन 'फिल्म' ले लिये और पास जाकर रुक्मणी को चूम लिया। रुक्मणी होश-हवास खोयी-सी चुप रही।

घर पहुँचे। रात्रि को थका मैं सोया था कि अचानक मेरी नींद टूटी। सिसकने की आवाज़ मैंने सुनी। चुपचाप बाहर निकला। चारों ओर घना अन्धकार था। बीच-बीच में धीमी-धीमी सुबकियाँ ही मैं सुन पाता था।

अगले दिन यह रुक्मणी मुझसे दूर रही। मैंने उसे नहीं देखा। मेरा नौकर ही खाना और चाय मेरे कमरे में लाया। उसका पिता भी मैंने बदला पाया।

उसी सन्ध्या को सुना, रुक्मणी अपने मामा के घर दूसरे गाँव चली गयी। तीन महीने में लौटेगी।

अगले दिन गृह-स्वामी से मैंने कहा, मैं जाऊँगा। दिन भर गाँव के परिचित लोगों से विदा लेता रहा। दो महीने पाँच दिन इस गाँव में काटे थे। फिर भी लगता था कि मानो कल ही आया हूँ।

दूसरे दिन मैंने नौकर के साथ वह गाँव छोड़ दिया। गाँव की हद छोड़ आगे बढ़ा था कि नौकर ने मुझे एक काग़ज़ का टुकड़ा दिया। उस पर टेढ़ी-मेढ़ी रुक्मणी की लिखावट मैंने पायी। टूटे-फूटे वाक्यों में लिखा था, "गङ्गा से लौटते राधा बुआ ने हमें देख लिया था। उसने बाबा से शिकायत कर दी। बाबा ने मुझे खूब मारा। मैंने कहा—बाबा, हम एक-दूसरे से प्रेम करते हैं।

बाबा ने कहा—यह झूठ है। वह बड़े घर का है। तेरी ग़लती है। उसकी शादी कहीं राजघराने में होगी....

और तुमने भी कभी इसकी पूरी बात बाबा से नहीं कही........

पत्र कुछ भी समझ में नहीं आया। अजीब-सा पत्र था।

और मैंने गाँव छोड़ दिया था।

बात सोलह वर्ष पुरानी है ; पर लगती है आजकी-सी। इन सोलह सालों में क्या-क्या हुआ, सब मेरी डायरियों में लिखा है।

'डिस्ट्रिक्ट हास्पिटल' के एक कमरे में दो माह से निमोनिया से बीमार पड़ा हूँ। जीवन का मोह छूट रहा है। आज भी अपना मेरे पास कोई नहीं है। अपने पहाड़ी प्रदेश से दूर परायों के एक शहर में हूँ। जहाँ कथित सभ्यता है। आज इन सभ्य लोगों में कोई भी मेरे पास नहीं आता। हमारे कमरे में पाँच रोगी थे। एक-एककर वे चुक गये। चार रोगियों के जीवन से मेरी आँखें खेल चुकी हैं। सोचता हूँ गिनती का पाँचवाँ नम्बर ?

कल सुबह अस्पताल के भङ्गी का छोटा लड़का आया था। उसने मुझे एक पेन्सिल का टुकड़ा दिया। सोचा था कि कुछ लिखना ही भूल है। कल लोग पढ़कर कहते हैं क्या लिखा, पूरी 'ट्रेजडी' भी नहीं। फिर भी वह छोकरा मेरे कहने पर बादामी काग़ज़ के कुछ ताव भी ले ही आया।

एक बात भी भूलूँ क्यों ? अस्पताल के इस नीरस जीवन में कभी-कभी यह छोकरा ज़रा समीप आता है। इससे हँस-खेल भी लेता हूँ।

याद जितनी धुँधली है, बात उतनी ही निकट लगती है। कैसी विडम्बना है यह कि आज अपने अस्तित्व को खोकर भी काग़ज़-पेन्सिल के जुड़ जाने पर ही लिख रहा हूँ—रुकमणी के घर।

तीखा व्यङ्ग

छोटी-छोटी फूस की झोंपड़ियाँ हैं। एक में एक ग्वाला अपनी नयी दुलहिन के साथ रहता है। दूसरी में लकड़ियों का टाल है। वहाँ एक बुढ़िया बैठी लकड़ियाँ बेचा करती है। तीसरी में एक चमार रहता है। वह अधेड़ है और चुपचाप काम कर, जो कुछ भी कमाता है, उसे नशे-पानी में ख़र्च कर देता है। फिर कुछ झोंपड़ियों के ऊपर छप्पर नहीं हैं। और आख़िरी जर्जर झोंपड़ी में रधिया अपने पति के साथ रहती है।

उन झोंपड़ियों की बस्ती की एक अजीब दुनिया है। ग्वाले के सामनेवाले आँगन में एक नींबू का पेड़ है, उसीके पास कुछ खूँटे गड़े हैं, उनमें गायें बँधी रहती हैं। और एक अमरूद का पेड़ भी है, उसके नीचे बछियाँ खेलती रहती हैं। अक्सर ग्वालिन वहाँ अपनी काली चुनरी में बरतन

माँजने भी बैठती है। कभी-कभी पति के बाहर चले जानेपर 'चाट' या 'नान खताईवाले' का खोम्चा भी वहाँ लगा रहता है। वह जितनी ही साँवली है, उतनी ही पक्के रङ्ग की तरह चाट खानेमें प्रवीण है।

टालवाली बुढ़िया के कुछ भी काम नहीं है। दिन-भर खाँव-खाँव लगाये रहती है या फिर गालियाँ देगी। उसका काम भगवान् और दुनिया को कोसने के अलावा कुछ नहीं है। उसका एकमात्र लड़का शीतला माता ने छीन लिया था। एक लड़की थी, वह भी हैजे में मर गयी। जमाई साथ में है; पर उसका काम जुआ खेलना, शराब पीना—आज इतनी ही वह अपनी दिनचर्या बनाये है। ग्वालिन की झिड़कियाँ खाकर, अब उसने उससे अश्लील मज़ाक करना या 'ज्ञानी जोबन पे मत इतराया करो' गाना फिलहाल छोड़ दिया है।

चमार जीवन के प्रति उदासीन रहता है। सुबह उठकर कामपर चला जावेगा, कहीं गली के नुक्कड़पर बैठकर वहीं वह चप्पलें, जूते सियेगा, सोल लगावेगा। वह कभी मुस्कराता नहीं है। उसका अपना जीवन अपने में ही सीमित है। अपनी ग़रीबी के कारण वह आज तक अपने समाज के बीच तक गृहस्थ नहीं बन सका। इस आर्थिक दासता की वजह से वह अपने लोगों के बीच सिर नहीं उठा सकता है। पिछले साल जाड़ों में उसे एक उम्मेद का शक्जा

दीख पड़ा था। उसके पास ही एक अमरूद बेचनेवाले की जवान छोकरी बैठा करती थी। उसने उसके जीवन में एक हरियाली फैला दी थी। उसे उसके प्रति सहानुभूति हो गई थी। किन्तु आकांक्षा का वह जाला एकाएक टूट गया। वह छोकरी अपने किसी यार के साथ भाग गयी। आज भी उसकी याद वह करता है। उसके आगे जब लोग उस लड़की के चरित्र की व्याख्या करते हैं, तो वह मन ही मन बहुत झुँझलाता है। वह नारी का मूल्य उसके शारीरिक आकर्षण और भूखनिवारण तक ही सीमित नहीं रखता। चरित्र की साधारण कमज़ोरियों से अलग, वह उसके दिल की सहानुभूति की क़ीमत पर विश्वास करता है। यदि वह लड़की लौट आवे, तो वह एक भरी-पूरी सहानुभूति के साथ उसे अपने साथ रख लेगा।

और वह रधिया? उसका अस्तित्व उस समाज में भी नहीं है। उसका पति पहले एक खोंचेवाले के साथ नौकर रहा, फिर वह बेकार हो गया। कुछ दिन बाद उसे एक फेरीवाले बजाज के साथ कपड़े की गठरी सिरपर लादे-लादे मुहल्ले-मुहल्ले घूमना पड़ा। रोज़ाना दो-तीन आने से अधिक मज़दूरी उसे कभी नहीं मिली। जब रधिया इस घर में आयी, तो चुप बैठी नहीं रही। उसने भी पति की सहायता शुरू कर दी। वह घास छीलने में प्रवीण थी। चुपचाप अपने काम से रोज़ाना दो-चार-आने कमाकर ले आती थी।

राधिया के जीवन की उमङ्गों में कभी वसन्त नहीं आया। वह मुर्झा गयी। कभी-कभी अनायास उसकी निगाह ग्वालिनपर पड़ती। उसका ऐश्वर्य, ईर्षा फैला देता। वह गुण्डी-मुण्डी बनी जब रात को अपने पति के पास सोती, तो एक विद्रोह उठता। अगले दिन वह खूब मेहनत करती, किन्तु घास ढाई आने से अधिक न बिकती। वह मुरझाये मुँह घर लौट आती। इतना वह भली भाँति समझ चुकी थी कि यह तुलना वह व्यर्थ करती है। भाग्य और भगवान् ने उसे और उसके पति को यही जगह दुनिया में रहने को दी है। किसी खास उम्मेदपर उनको जीना नहीं है।

फिर भी राधिया की पैनी दृष्टि उस ग्वालिन की बातें भाँपा करती थी। वह देखती थी कि उनकी गृहस्थी में शिकवा—शिकायत चलती है। उनके जीवन में रङ्गीनी है। वहाँ कुतूहल भी है। अक्सर ग्वालिन अपने पति से लड़ पड़ती थी। उनका खूब झगड़ा होता था। वह आटा गूँधते-गूँधते, धौंस के साथ चिल्ला-चिल्लाकर कहती थी—'वह नहीं गूँधेगी आटा। नहीं बनावेगी रोटी। नहीं खिलायेगी खाना। वह कुछ काम नहीं करेगी। लड़के अपने बाप के पास चली जावेगी। उसे कुछ नहीं चाहिए। उसे किसी बात की कमी नहीं है। वह इस घर में एक मिनट नहीं टिकेगी। वह ज़रूर-ज़रूर चली जावेगी। देखूँ, कौन उसे रोक सकता है। यह धमकी नहीं है........।

पति चुपचाप सारी बातें सुनता। रोटियाँ भी बनतीं। पति को खिलायी भी जातीं। फिर भी धमकी बात-बात पर दी जाती कि वह चली जावेगी। वे फिर चाहे कितनी ही खुशामदें करेंगे, वह लौटकर कदापि नहीं आवेगी। वह इस गृहस्थी से अब बाज आ गयी है। यहाँ उसका रहना नहीं हो सकता है। रधिया सब कुछ देखा-सुना करती। उसके दिल की भावुकता, भावना में तबदील हो जाती। उसकी उम्मेद और उत्साह एक बेकली में बदल जाता। वह अपने पति के साथ यह व्यवहार नहीं बरत सकती है। उन दोनों के बीच गृहस्थी में पति-पत्नी का कोरा रिश्ता है। दोनों दो समानान्तर रेखाओं की तरह जीवन में चल रहे हैं, जहाँ कि कोई भी मार्फत नहीं है। आर्थिक—दासता ने दोनों को निर्जीव बना दिया है। उनका आनेवाला दिन अँधियारा भविष्य है। जहाँ क्या होगा, इस पर वे अधिक विचार नहीं करते। वह नामुमकिन लगता, जिस पर भरोसा नहीं किया जा सकता है।

किन्तु वह ग्वालिन अगली सुबह चुपचाप बछिया पकड़े खड़ी मिलती और उसका पति गाय दुहता रहता, जैसे कि उस युवती की वे सारी बातें, जीवन में नहीं टिकतीं। पति-पत्नी फिर स्वस्थ लगते। वह पति से बातें करती-करती बीच-बीच में टुक मुस्करा उठती। उस मुस्कान में मोह लेने की शक्ति होती और पिछली रात का झगड़ा कहीं भी बचा

नहीं मिलता । उन दोनों के दिलों में वे ज़रा-ज़रा-सी बातें टिक नहीं सकती थीं । रधिया फिर अपने जीवन को उस गृहस्थी की कसौटी पर तोलती । वह भी पति से झगड़ती है । वह झगड़ा रोज़ नहीं होता । कभी महीनों में हो जाता है । जब होता है, तो महीनों तक चलता भी है । वह उन दिनों बहुत निराश रहती है । और वह सब क्यों होता है, इसका सबब भी वह जानती है । वह पैसों पर होता है । उस पैसे से उनकी गुजर नहीं होती । दोनों के मन में असन्तोष है । उस असन्तोष की जड़ पैसे का ग़लत बटवारा है । वह शौक नहीं कर सकती है, जब कि पति उसके पैसों पर भी अधिकार जमा लेता है । वह उस पर कभी-कभी तो बहुत ज़्यादती करता है । वह आखिर कितना सहे । यह उसके प्रति अत्याचार लगता । वह अपने मन में इस बात की गाँठ बनाकर खरी-खोटी सुना देती है । पति भी झल्ला उठता था । दोनों एक-दूसरे को भली भाँति पहचानकर भी आपस में नहीं बोलते । उन दिनों रधिया अनमनी रहती । सब चुपचाप सह लेती । बात का तुफेल बनाना उसे जँचता नहीं था । कभी-कभी वह अपने पर झुँझलाती—फिर भी चुपचाप रहती थी । अपना काम मन लगाकर करती । फिर भी शहरू जीवन की व्यवस्था में मन मारकर कितना वह रहे । बात-बात में खर्चा । वह चन्द ताँबे के सिक्कों पर आखिर कैसे सारी गृहस्थी चलावे । वह उसके वश की बात

नहीं। कितना मोटा-सोटा खावे-पहने ; कुछ तो हद होती है।

इस पर भी पति धमकी देता कि वह यदि शादी न करता, तो वह भी उस चमार की तरह रहता। आगे-पीछे किसी की फ़िक्र उसे नहीं होती। चैन से दिन कटते। जब कमाता तो ख़ूब ख़र्च करता, पैसा न मिलने पर फाकेमस्ती में भी एक सुख ढूँढ़ लेता। आज तो वह बन्धन में है. कहीं जा नहीं सकता। उलटे सिर पर चार लोगों का कर्ज़ा है। शहर में रोज़गार मन्दा है, दूसरे शहरों का यही हाल थोड़े ही होगा। लेकिन वह मज़बूर है, उसके हाथ में कुछ भी नहीं। इस शादी ने तो उसे हर तरह बरोबाद कर दिया है। रधिया सब सुनती है—सुनती है, जवाब नहीं देती। चाहे, कह दे कि वह भी अपना मूल्य जानती है। उसके नारीत्व की भी क़ीमत है, उसका सौन्दर्य भी आकर्षण की वस्तु है। और उस बुढ़िया का जँवाई रोज़ उसे लोभ देता है। उसे आश्वासन दिलाता है कि यदि वह अपने पति को छोड़कर उसके घर में बैठ जावे, तो न मेहनत-मज़दूरी करनी पड़ेगी, न इतनी तकलीफ़ें सहनी होंगी। फिर कृत्रिम बाहरी जीवन की टीमटाम उसे नापसन्द है। अपने पति पर उसका सारा मोह सीमित है। वह किसी भी तरह औरों के व्यवहार में पिघल नहीं सकती है। अपनी उदासीनता को सँवारने में, वह विपरीत नहीं चलेगी। वह पति

को ख़ूब प्यार करती है। उनके जीवन में कहीं कोई ख़ास रुकावट नहीं है। वह दोनों ठीक-ठीक सब कुछ कर लेवेंगे।

इस तरह आदमियत साधारण दर्ज़े के लोगों के बीच भी चालू है। वहाँ भी सब सामाजिक बुराइयाँ हैं। वहाँ भी पैसा मनुष्य को ढक लेता है। वहाँ भी अवसर आदमी के आगे बार-बार खड़ा हो जाता है। दुनिया की प्रतिदिवस की चर्या में यह पैसा इन्सान को निम्नता की श्रेणी में भी ले आता है। कभी-कभी आदमी थककर ठहर जाता है— और वह पैसा जीवन-प्रतीक बना खड़ा-खड़ा मुस्कराता मिलेगा। यदि भाग्य और पैसे का निवारण हो जाय, तो उचित स्थान और इन्सान के व्यक्तित्व का सवाल हल होते देर नहीं लगेगी। इस जीर्ण समाज के घाव आदिकाल से दुखते चले आये हैं और आगे भी उसका उपकार आसान नहीं। आख़िर किसने इन्सानों के बीच गहरी-गहरी खाइयाँ खोद-कर, उनको आर्थिक—दासता स्वीकार करने को मज़बूर किया है। इसी वजह जीवन में प्रतिदिवस कठोरता आ गयी है। और उस ग़लत निर्माण का सारा भार कुछ दरज़ेवालों को सौंप दिया गया है। यह सर्वदा शाप-सा उन पर लागू रहता है।

वह रधिया दुनिया को आँखें फाड़-फाड़कर देखती है। देखती है उस ग्वालिन को। उस ग्वालिन का रोज़ाना जीवन उसके दिल में रोमांस की भावना भर देता है। वह उनका

सुख-सपना देख, उस अपने अभागे भाग्य को कोसती भी है। किसी पिछले एक दिन बिसाती आया था। ग्वालिन ने सुन्दर-सुन्दर चीज़ें ख़रीदी थीं। तरह-तरह की चीज़ें थीं वे। उसने बाल बाँधने का नये डिजाइन का फुन्दा लिया था। अपनी चुनरी के लिए चकमक गोट लिया। रधिया मन मारकर सब कुछ देखती ही रह गयी। वह क्या करती, उसके पास पैसा नहीं था। दुनिया की सब ख़रीदारी पैसे पर चलती है। वह भी उस पैसे का पूरा-पूरा मूल्य जानती थी। वह पैसा न होना, उसे बहुत दुःख देता। लेकिन उसे लाख की चूड़ियाँ पसन्द थीं। वह अपना शौक पूरा करना चाहती थी। वह मन में सोचने लगी कि उम्र में अभी वह उस अहीरिन से तीन-चार वर्ष छोटी है, फिर कड़ी मेहनत-मज़दूरी करने से कई साल बड़ी लगती है। अभी तो उसकी उम्र शौक से खाने-पहनने की थी। फिर वह चुपचाप उठी और टालवाली बुढ़िया के जमाई के पास पहुँची। चार आने कर्ज़ा निकाला। उसके अश्लील मज़ाक को सुन बिदकी नहीं, चुपचाप उसे पी गयी। आज वह भी 'वस्तुवादी' बन गयी थी। ज़रूरत के आगे झुक गयी। उसके हृदय में चोट लगी, पर वह तिलमिला नहीं सकी। उस चवन्नी की उसने चूड़ियाँ ख़रीदीं, पहनीं और उनको पहनकर उसे अपने जीवन में पहली बार ख़ुशी हुई। अपने जीवन की उदासी में जैसे कि उन चूड़ियों की

चमकाहट की रोशनी से वह कुछ ढूँढ़ रही थी। अपने जीवन में तैरते हुए उस मैल को, जो उसे दुःखी बना, पीड़ा पहुँचाता था; वह अलग हटा देने की फ़िक्र में थी। वह अपने जीवन का रुख़ बदल देना चाहती थी। उसके मन में एक नयी उमङ्ग और उत्साह था, जिसे वह ख़ुद न समझ सकी। एक अज्ञात थिरकन दिल में उदय होकर, उथल-पुथल मचाने लगी। कभी-कभी अनायास वे चूड़ियाँ पैना डंक मारतीं, फिर भी वह अब सुलझ गयी। जीवन के प्रति उन्मुख न हो, पैसे का उपहास उड़ाना उसने स्वीकार कर लिया। फिर वह कुछ देर के बाद उन चूड़ियों को पहन ख़ुश नहीं रह सकी। वह बुढ़िया का जमाई उस चवन्नी के बल पर अब उससे अश्लील मज़ाक कर सकता है। वह सुनने को तैयार जैसे कि हो गयी हो। आज तक वह उसकी ओर आँख उठाकर नहीं देखता था। अब वह छोकरा उसे तृष्णा की भूखी और खाली आँखों से ऐसे घूर रहा था कि जैसे रधिया ने अपने को स्वयं ही उसे सौंप दिया है। तो भी रधिया को सब मंज़ूर था। होनहार और उस भाग्य के साथ वह अधिक झगड़ना नहीं चाहती थी, जिस पर उसकी आर्थिक ग़रीबी निर्भर थी। न उसे भविष्य का कोई जाल बुनना पसन्द था।

उस सन्ध्या को रधिया अपनी झोंपड़ी में अनमनी-सी अकेली बैठी थी। न-जाने मन क्यों परेशान था। कुछ वह

अपने में भी नहीं थी। अब वह अस्वस्थ लगी। वह न जाने क्यों फूट-फूटकर रोना चाहती थी। तभी उस सुनसान में उसने एक आहट सुनी। मुड़कर देखा, वही छोकरा खड़ा था। उसने एक पूड़ा निकाला और मिठाई आगे रख दी। रधिया असमञ्जस में पड़ी। वह चुपचाप बाहर खिसक गया था। रधिया के मन में कोई एक तीखी हँसी हँसा। उसमें कुटिलता भरी थी। रधिया अधिक देर तक असावधान नहीं रही। वह सब कुछ जानकर उठी, उसने वह मिठाई का पूड़ा उठाया। झोंपड़ी के पिछवाड़े पहुँची, वहाँ नाली में फेंक दिया। फिर भी मन की अकुलाहट नहीं हटी। एक छी-छी-छी सारे जीवन में फैल गई थी। वह खुद उपाय न निकाल सकी। रात भर उसे नींद नहीं आयी। अगले दिन उसे हलका ज्वर हो आया। तीन-चार रोज़ वह बीमार भी पड़ी रही। उसकी बीमारी में उस छोकरे ने उसकी खूब टहल की। वह उसे बहुत नज़दीक से देखकर, पहचान गयी कि वह भी उसके नारीत्व की ग़रीबी के प्रति सहानुभूति रखता है। यह पैसा ही जीवन का ऊपरी हाथ है। यह भगवान् और भाग्य दोनों को बाँधकर पकड़ रखने की क्षमता रखता है।

अच्छे होते ही उसे मालूम हुआ कि उसकी शारीरिक मेहनत से अधिक, उसके शरीर की क़ीमत है। लेकिन पुरातन से चली, चरित्र के प्रति फैली धारणायें उसके

आगे हर तरह रुकावट डालती थीं। जैसे चरित्र पैसे से ऊपर हो और अपने शरीर से पैसा कमाकर भाग्य को धोखा देना नारी का अधिकार नहीं। यह दलील बार-बार आगे आती। स्वाभाविक जो हिचक थी, उससे वह सावधान रहने लगी। कभी-कभी वह क्षण भर के लिए चिन्तित हो उठती। एक दिन उसका दिल पिघलकर इतना भावुक बन गया कि उसने सब चूड़ियाँ तोड़-फोड़ डालीं। तब जाकर उसे चैन मिला। वह चवन्नी उस तरह माँगनी अनधिकार बात लगी। उसने सोचकर तय किया कि वह जल्दी ही, उसके पैसे लौटाल देगी। वह खुद कमाकर दुनिया में सिर ऊँचा करके चलेगी। यही उसे करना भी है। उस दिन उसके दिल में नयी-नयी उमङ्गें भरी रहीं। साँझ होने को थी, अहीरिन ने पूछा—गुड़िया के मेले में वह नहीं चलेगी। वह क्या कहती। मेले में जाना आसान काम नहीं था। उसके लिए भी पैसा चाहिए। वह अपनी पड़ोसिन के आगे अपनी ग़रीबी का प्रदर्शन करना नहीं चाहती थी। लेकिन क्या करे। बोली ही कि वह चलेगी। अहीरिन को चलना ही नहीं था, वहाँ बहुत सारी चीज़ें भी ख़रीदनी थीं। वह बार-बार उन चीज़ों को दुहराती थी। एक-एक चीज़ का नाम खट-खट-खट करके उसके हृदय पर चोट करता था। रधिया अपने पर और अपनी ग़रीबी की हालत पर मन-ही-मन झुँझलायी। अहीरिन चली गयी। रधिया

कर्तव्य की तरह उठी और उसके आगे वह अश्लील साहूकार याद आया—बुढ़िया का छोकरा। इशारे से उसने उसे अपने पास बुलाकर अठन्नी की माँग पेश की और उसने एक भले पड़ोसी की तरह एक रुपया देकर कहा कि उसके पास रेज़गारी नहीं है। रधिया ने वादा किया कि वह मेले से वापस आकर बाक़ी पैसे लौटाल देगी। वह रधिया उस छोकरे के मुँह पर एक घृणित उपहास पा चौंकी; किन्तु वह भावना दबाकर, बाहर निकली और अहीरिन के पास पहुँच गयी। उसे अहीरिन के भाग्य पर फिर ईर्षा हो आयी। वह ग़रीब है, इसीलिए दुनिया उसको अपना सकती है। उसकी नारीत्व की क़ीमत आँकी जा सकती है। फिर भी वह दबे मन मेले पहुँची। वहाँ के वातावरण में उसे शान्ति नहीं मिली। एक अजीब विद्रोह हृदय में उठ चुका था। वहाँ आग सुलग रही थी। वह और भी तेज चलने लगी। मेले में चारों ओर हँसी-ख़ुशी फैली थी। अहीरिन चीज़ों का मोलतोल कर रही थी। और चीज़ों को ख़रीद-ख़रीदकर रधिया को सौंपती जाती। रधिया की हैसियत वहाँ भी एक साधारण नौकरानी से बड़ी नहीं थी। रधिया सारी पीड़ा दबा गयी। वह चुपचाप चीज़ों को सावधानी से सँवारती रही। और वे लोग मेले से लौट आये।

रधिया ने रात को खाना नहीं बनाया। बड़ी देर तक फूट-फूटकर रोती रही। बहुत रोयी! रोयी!! रोयी!!!

अपने में ही रोती रही। अपनी निम्नता को पीकर भी रोती रही। वह अपना दुःख किसी पर भी व्यक्त करना नहीं चाहती थी। उसके आगे कुछ जीवन-तस्वीरें मैली-मैली फैल गयीं। वह अवाक् उनको देखती रही। देखती :

वह ताँगेवालों का अड्डा। जहाँ वह घास बेचती है। वह कितनी गन्दी जगह है। फिर भी वह वहाँ जाती है। उसका सौदा वहीं बिकता है। उसी की तरह और औरतें भी वहाँ जाती हैं। वह चारखाने का तहबन्द बाँधे हुए ताँगेवाला, उससे अश्लील मज़ाक तो करता ही है, उसे ताँगे में घुमाने का वादा भी करता है। उसे समझाता है कि नारी को स्वयं अधिक खींचकर नहीं रहना चाहिए। नारी में तो स्वाभाविक उदारता होती है। कब यह ज़ालिम जवानी चली जाय, इसे तो कोई भी नहीं जानता। वह इस तरह घबड़ाती क्यों है। ठीक, उसे अभी पुरुष का सही-सही अनुभव नहीं है न। ओ' पुरुष तो बहुत दयालु होता है। उसका अनुभव कच्चा नहीं। और यह सब चरित्र तो एक ढोंग है। चरित्र पर विश्वास करनेवाली औरतों को इस तरह बाहर खुले-खुले नहीं निकलना चाहिए। इसमें लाज का सवाल नहीं उठता। यह तो ख़ुदा की सृष्टि है, यहाँ पाप-पुण्य कुछ नहीं। सब ढकोसला है।

रधिया यह दलील तो सुनती-सुनती थक गई है। फिर

भी घास बेचना उसका पेशा है। अधिक से अधिक दामों में वह अपनी गठरी बेचना चाहती है। और इसके लिए लोग उसे फुसलाने को कुछ ज़्यादा दाम भी दे देते हैं। वह ताँगेवाला उसी की घास अधिक ख़रीदता है। कभी-कभी पुचकार और प्यार के चार शब्द भी बोलता है। या फिर एक बीभत्स हँसी हँसेगा। उसे देख रधिया बहुत डरती है। लाचार है। उसको इन लोगों के हाथ ही तो घास बेचनी है। यही उसका पेशा है। अपने पेशे में उस पर पड़नेवाली साधारण रुकावटों के लिए, वह उसे छोड़ नहीं सकती। अपना रोज़गार उसे निभाना ही है। उस बस्ती में जाते उसे घृणा लगती है। लेकिन अब वह उसे पचाने की आदी हो गयी है।

वह बड़ी सुबह वहाँ घास बेचने जाती है। देखती है ताँगेवालों का हाल। कोई चायवाले से चाय पीता है, कोई पाव रोटी का टुकड़ा दाँतों के तले दबाये रहता है। एक घोड़े को मलना मिलेगा, तो दूसरा ताँगे कसने की तैयारी में होगा। इस पर भी वह एक युवती घासवाली को भाँपा करती है। वह साँवली है, उनके मज़ाकों पर टुक मुस्कराती है। यदि कोई चाय का कुल्हड़ दे देता है, तो वह बिना किसी आनाकानी के पी लेती है। या फिर दूसरा बीड़ी देगा और वह सुलगाकर धुँआ उगालने लगेगी। इन सब बातों में उसे लाज नहीं लगती। वह यह भी सुन चुकी

है कि पहले वह उस तहबन्ददार ताँगेवाले की प्रेयसी थी। अब उसने इसे छोड़ दिया है। और ताँगेवाले अब उसे पटाने की फ़िक्र में हैं कि वह किसी की सही, एक की प्रेमिका तो रहे। आख़िर बिना प्रेमी के उसे खाली तो रहना नहीं है ?

वह दुनिया को आँखें फाड़-फाड़कर क्या नहीं देखती है ? उसने सब कुछ देखा है। दुनिया का रङ्ग-ढङ्ग पहचानती है। ताँगेवालों के पास से घर लौटते रास्ते में पत्थर के कोयलों की ढेरी के पास कुरसी पर ठेकेदार बैठा रहता है। वह रोज़ रधिया को ताना मार, रुपया दिखलाया करता है। एक दिन रधिया बड़ी सुबह घास बेचकर लौट रही थी, तो उसने देखा था कि उस ठेकेदार की कोठरी से एक अधेड़ औरत बाहर निकली। वह अलसायी और थकी लगती थी। इतना वह समझ गयी कि वह रात को ज़रूर वहीं रही है। वह उसे ख़ूब पहचानती है। वह उसके ही मुहल्ले की औरत है, जो बात-बात में झगड़ा बढ़ाकर गाली-गलौज शुरू कर देती है। वह यह भी दुनिया भर से कहती-फिरती है कि वह सती-साध्वी है। वह और औरतों के बुरे चरित्र की व्याख्या भी किया करती है। उसकी दृष्टि में और सब औरतें चरित्रहीन हैं।

रधिया इस तमाशे पर कुछ संकुचित होकर भी, उस पर कोई राय देने को तैयार नहीं हुई। सोचा था उसने,

ग़लती उस औरत की नहीं है । वह भी मज़बूर होगी। अन्यथा क्यों कोई इस तरह मारा-मारा डोले । उस औरत के लिए उसने दिल में श्रद्धा बटोर ली । वह यह अच्छी तरह समझ गयी कि पुरुष हर तरह नारी पर अधिकार जमाना चाहता है । उसे नारी का शरीर चाहिए । वह उसे ख़रीदता है, मोल-तोल करता है । सब पुरुष उसकी दृष्टि में उसी श्रेणी में आ गये । वह हर एक को उसी एक निगाह से देखने लगी ।

रधिया को फिर भी नींद नहीं आयी। पति मेले से अभी तक लौटकर नहीं आया था । उसने अपने पर बहुत विचार किया । क्यों वह पैसा इस तरह उधार लिया करती है । किस तरह वह रुपया चुकावेगी । क्या उसका यह व्यवहार ठीक है । और वह जो बिना हिचक उसे कर्ज़ा दे देता है, क्या चाहता है उससे ? वह क्या एक दिन उसकी माँग पूरी करेगी । क्या यही उसने फैसला कर लिया है । ग़रीब नारी का चरित्र भी कुछ नहीं होता है । हरएक उसे पाने की कोशिश करता है । नहीं तो वही क्या........

वह जानती है कि सामने जो बड़ा मकान है, उसमें एक रईस रहते हैं । उनके लड़के हैं । उनकी बहुएँ हैं, बेटियाँ हैं, नाती-पोते हैं । फिर भी वे अपने चश्मे की आड़ से तिरछी निगाह फेंक रधिया को रिझाने की कोशिश करते

हैं। उनके सिर के सब बाल सुफ़ेद हैं। चेहरे पर बुढ़ापे के कारण झुर्रियाँ पड़ गयी हैं। फिर भी कई बार रधिया के आगे बुरा प्रस्ताव रख चुके हैं। वे कहते हैं—'वह झोंपड़ी में रहने लायक़ नहीं है। उसकी जगह तो महलों में होनी चाहिए थी। रधिया चाहे तो बात-की-बात में राजरानी बन सकती है। वे हर तरह से रधिया की सहायता करेंगे, यदि रधिया उनका अनुरोध मान ले।' लेकिन रधिया देखती है, उस परिवार में पूरा वैभव है। गृहस्वामिनी सुघड़ स्त्री है। वह अन्दाज नहीं लगा पाती कि दुनिया बावली हो गयी है या वह ? नहीं तो सब उससे यही क्यों चाहते हैं। यदि सबकी बातें झूठी हैं, तो वही क्या और कहाँ की सच्ची है।

लेकिन रधिया का स्वामी मेले से लौट आया। रधिया सँभल गयी। उसकी भावुकता मिट गयी। पति और पास आया। रधिया चौंकी। आज पति शराब पीकर क्यों आये हैं। यह दारू पीनी कब से शुरू की गयी। वह अब क्या करे। पति से उसे यह उम्मीद नहीं थी। वह यह न सह सकी, चुपचाप बाहर खिसक गयी। बाहर घना अँधियारा था। वहीं उसने किसी की धीमी आवाज़ सुनी। देखा फिर कि कोई औरत टालवाली बुढ़िया की झोंपड़ी के पास खड़ी है। फिर देखा उसने कि वह और टालवाली का जमाई, दोनों ग्वालिन की झोंपड़ी में चले गये। वह

सन्न रह गयी । यह क्या खेल है । उसकी उम्मीदों पर भारी धक्का लगा । वह इस कच्ची चोट से तिलमिलाकर आगे बढ़ी । गली पार की । सड़क पर पहुँची । कुत्ते भूँक रहे थे । एक पानवाले की दूकान के अलावा और सब दूकानें बन्द थीं । वह भी अपनी चीजें सँवारकर दूकान बन्द करने की फ़िक्र में था ।

वह आगे-आगे बढ़ी । सोचा, वह भी पाप करेगी । उसे भी पैसा चाहिए । उसे समाज की ख़ास परवाह नहीं है । ग़रीबों का अस्तित्व समाज में नहीं है । दुनिया में चलने के लिए पैसा चाहिए । धीरे-धीरे वह ताँगेवालों की बस्ती में पहुँची । मालूम हुआ कि वह तहबन्दवाला ताँगेवाला अभी लौटकर नहीं आया है । कुछ देर उसने उसका इन्तज़ार किया, फिर भी वह लौकटर नहीं आया । वह ऊब गयी । अधिक न रुककर कोयले के ठेकेदार का दरवाज़ा खटखटाया । वह भी नहीं खुला । बड़ी देर तक खटखटाया । कोई भी प्रति-उत्तर नहीं मिला । कुछ सँभलकर देखा उसने—ठीक उस पर ताला पड़ा हुआ था । उसे बड़ी निराशा हुई । वह किसी भी तरह घर लौटकर नहीं जाना चाहती थी । वह अपने पति के पास नहीं जावेगी । तभी याद आया कि उसे राजरानी बनना है । बस वह राजरानी बनेगी । वह दौड़ने लगी । दौड़ी-दौड़ी उस बड़ी हवेली के पास पहुँची । उसने देखा कि वहाँ एक

कमरे में रोशनी है। हकबकाकर उसने खिड़की से देखा वही बूढ़ा पलँग पर लेटा कुछ पढ़ रहा था। उसे भारी उम्मेद हो आयी। उसने दरवाज़ा खटखटाया। दरवाज़ा खुला। रधिया तपाक से बोली—"मैं राजरानी बनने आयी हूँ। जो कहोगे, मानूँगी।"

लेकिन बुड्ढा चुप रहा।

फिर रधिया बोली—"बोलो-बोलो—चुप क्यों हो। तुमने ही मुझे राजरानी बनाने को कहा था।"

अब बुड्ढा हँस पड़ा। बोला फिर—"तू बड़ी देर में आयी रधिया। अब मैं तेरा क्या करूँ। तेरे बच्चा होनेवाला है। तेरी कुछ भी क़ीमत नहीं। वह देख........।"

रधिया ने देखा कि दूसरे पलँग पर एक युवती सोयी हुई थी। वह फिर बोला—"मुझे औरतों की कमी नहीं है। नक़द पैसे से अच्छे-से-अच्छा सौदा मिल जाता है।"

रधिया की आँखों के आगे अँधेरा छा गया। वह बाहर निकली। अपनी झोंपड़ी के भीतर पहुँची, और वहीं बैठकर अपने पेट पर ज़ोर-ज़ोर से मुक्के मारते, रोते-रोते कहने लगी—"मुझे बच्चा नहीं चाहिए! मुझे बच्चा नहीं चाहिए!" और कुछ देर बाद बेहोश हो गयी।

अधूरा चित्र

आज डॉक्टर न-जाने क्या कह गया। मैं उसे अनसुना-सा कर अपने चित्र को बनाने में लीन था। कूची भाव परखती स्वतन्त्र गति से चल रही थी। गोरे-गोरे रंग पर भावों का चढ़ाव-उतार निर्मल जल में उपजी हुई लहरों-जैसा अलग-अलग वृत्तों में बढ़ता था। उस गौरवर्ण में मानसिक लाली भावमय सजीवता भरकर, मेरे चित्र में मूकता के अन्तर्गत एक सजीव सौजन्य का उफान लाती थी।

"पानी!"

बड़ा ही करुण, क्षीण स्वर था; दूर से आया प्रतीत होता हुआ भी मेरे बिलकुल समीप था। हृदय में एक द्वन्द्व खड़ा हुआ, क्या डॉक्टर की आज्ञा की अवहेलना कर इसे गरम पानी के बदले ठंडा जल दे दूँ? लेकिन वह इसकी अधिकारिणी न बन सकी; घड़ी की सुई ने

ओवलटीन देने के समय की ओर हाथ बढ़ा दिया।

मैंने कूची एक ओर रख दी, और 'फ़ीडिंग बोतल' पर ओवलटीन उँडेल उसे पिलाने लगा। एक घूँट—घुट्ट। मैंने एक हाथ से उसे सहारा दिया, वह आराम करने लगी। फिर दूसरी घूँट—वास्तविक शान्तिमय जीवन की धारा का भ्रम सा। एक-एक घूँट पीते समय उसके मुँह पर लाली दौड़ जाती। उस पीले चेहरे पर लाल-लाल रुधिर की एक-एक लहर आकांक्षा की एक-एक डोरी-सी अलग-अलग चुनी जा सकती थी। उन काली आँखों की सफ़ेदी में विषाद-मय करुण-कथा के कई चैप्टर थे, जो समय के प्रवाह के साथ-ही-साथ अपनी स्मृति भी अटल बना गये। ओवलटीन की अन्तिम घूँट के साथ ही वह थकी-सी चिन्तिता-सी, शिथिल होकर लेट गई। सहसा डॉक्टर का सन्देहमय कथन याद हो आया।

मैं झल्ला उठा; यद्यपि कोई नई बात न थी। आज डॉक्टर ने बड़े ही साहस के साथ वही बातें कहीं, जिन्हें कहते-कहते वह बार-बार रुक जाता था। आज कहते समय उसकी आँखों की पलकें भीग गई थीं। वह मेरी इस अटल सेवा का यह पुरस्कार न देना चाहता था। पर अपने कर्तव्य के आगे उसकी एक भी न चली। हारकर उसने कुछ वही सुनाया, जो मैंने अनायास इन बीते हुए दो सालों से पहले ही सोच लिया था—जब कि जीवन-मृत्यु के एक-

एक पहलू को मैंने कसौटी पर कसकर जाँचा था। अब जानकर भी मैं अनजान बना था। जब उपलब्धि की डोरी के सहारे मैंने निर्णय का छोर पकड़ा था, और अन्त में हृदय के पूर्ण साहस के साथ उससे विवाह करने को उद्यत हुआ था।

तो क्या मैं पागल था, जो मैंने उससे विवाह किया ? पिताजी ने कहा था—'क्यों यह बला सिर लेते हो ?' उन्होंने शास्त्रों की दुहाई देकर समझाया था, 'यह मेल ठीक नहीं है।' माताजी ने कई रातें रो-रोकर काटी थीं, अन्त में थोड़ी-सी स्वीकृति तक दे दी थी। भाई-बहन भी अपनी इस अभागिनी भाभी को लाने के पक्षपाती न थे। समाज में मित्रों का दल इसका विरोधी था। वे कहते थे—'जो मन में आवे, करो। पूरे दार्शनिक हो। लेकिन इतना आगे बढ़ना भी क्या ठीक होगा ?' सबका कथन ठीक था। मैं बरबस अपने जीवन को उससे बाँधने पर तुला। यह जानकर भी उसे अपनाना चाहता था, कि वह एक दिन मुझे धोखा देकर फुर से उड़ जायगी।

भला मुझ-जैसा मोटा-ताज़ा नवयुवक और वह हिस्टीरिया की रोगिणी ! क्षयरोग की प्रथम सीढ़ी पर चढ़ी हुई उस पीले-पीले चेहरेवाली से कौन विवाह करता ! उसकी दुःखान्त वियोग की कल्पना से भरी विचित्र आँखें, भौतिक शरीर की एक नैराश्यपूर्ण भावमयी मूर्ति ! उससे विवाह

करना अपनी आशाओं और सुखों को जीवित ही समाधि में गाड़ देना था।

जिस दिन मैं उसके पास पहलेपहल गया था, उसकी चमड़ी का पीला-पीला रंग और गालों की वह क्षण-क्षण भर में उभरनेवाली तीक्ष्ण लाली मुझ पर अपना प्रभाव डाल गई। उसकी गोल-गोल बड़ी-बड़ी आँखों की संसार से एक कातर याचना थी; हृदय पर उनकी गहरी चोट लगती। न-मालूम उनमें कौन-सी मोहिनी शक्ति थी। न-मालूम क्यों मैं किसी अज्ञात प्रेरणा में बँधा-सा खिंचा हुआ उसी समय पागलपन की झोंक में उसकी माता से उससे विवाह करने का प्रस्ताव कर बैठा। उसकी माता ने समझा, मैं उसकी पुत्री की हँसी उड़ा रहा हूँ। मानसिक चिन्ता के आवेग में उसने मुझे बड़ी निष्ठुरता से घूरा। पर मैं अपने निश्चय पर अटल रहा। मुझमें हास्य अथवा व्यंग्य का कुछ भी आभास न पा आखिर वह पूछ ही बैठी—'सच कहते हो बेटा ?'

मैंने सिर झुका लिया। मेरी इस शुद्ध हार्दिक प्रार्थना ने, मेरे इस अनुराग और प्रेम ने उसे पिघला दिया। एक दिन हमारा विवाह हो ही गया।

मैंने ऐसा क्यों किया, यह मैं आज भी न जान सका। परन्तु आज भी मैं उसे अपनी भूल न कहूँगा। एक अनमनी सजीव मूर्ति पर अवलंबित हृदयाकांक्षा की आन्तरिक प्रेरणा

ने मुझसे यह करने को कहा। मैंने सोचा तो इसे सच भी पाया। मैं सौन्दर्य को वासना की सामग्री नहीं समझता, वह तो कला का वृत्त है और मानसिक तृप्ति के लिए उसका आविर्भाव भी करना पड़ता है। मैं यह तो जानता था कि जिस अवस्था में वह थी, वह सौंदर्य की प्रथम और अंतिम सीढ़ी थी।

मैं उसे सोहागरात के विलास के लिए नहीं लाया था। उसे लाया था अपने हृदय में छिपाने के लिए। उसे संसार के कोलाहल से दूर मायामोह के झोंकों से हटा अपने हृदय में रख लेने के लिए। जहाँ नैराश्य ने कठोर प्रहारों से घाव बना डाले हैं, उन घावों की पीड़ा में मैं उसकी सहानुभूति की क्रीड़ा का निराला जगत् रचना चाहता था। मैं उसे अन्तस्तल की उन विभूतियों में मिलाने लाया था, जिनका मैं संचालक था। मैं उसे उसी के लिए लाया था। मैं उसे उसके हृदय की उस सुलगती हुई अग्नि को बुझाने लाया था, जो वहाँ फफोले बना रही थी। उसके हृदय की उन घनी व्यथाओं को हटाने लाया था, जहाँ मनुष्य की विचारशक्ति चूक जाती है। मैं इतना ही जानना चाहता था कि वह इस आकस्मिक संबन्ध का सहारा पकड़ किस कूल की ओर बहेगी। मैं उसके हृदय की गहरी-से-गहरी अनुभूतियों का विश्लेषण करना चाहता था। वहीं पर, प्रेम की नैसर्गिक धारा से परे, यथार्थ जीवन का प्रवाह है। वह

प्रवाह पानी की एक छोटी-सी नहर के समान है। उसमें पानी की नीली-नीली गहराई की थाह कौन नहीं पाना चाहता ? उसी नीले प्रवाह की याचना हम अपने इस छोटे-से जीवन में करते हैं। उसमें मनुष्य के स्वभाव की दृढ़ता है। उसे पाने में ही जीवन की सार्थकता है।

मैंने उसका नाम भी हिंदू-संस्कृति के नक्षत्रों और लग्नों पर नहीं रहने दिया। मैं उसे अपने रंग में लाना चाहता था। उसके आते ही मैंने उसका नाम बदल डाला।

मैं उसे कहता था कमलिनी। उसने मेरे जीवन को कलामय बनाया। भोले बच्चे के समान अपना हृदय खोलकर मुझे सौंप दिया। मैं भी तन्मय हो उसे पढ़ने लगा। सचमुच मेरे इस त्याग ने उसके हृदय में एक नये जीवन का संचार किया। वह मुरझाया मुख शीतल वायु के झकोरे पा खिल उठा।

हमारे जीवन की प्रथम रात्रि ने ही हमारे हृदयों में स्वर्ग की प्रतिमा बसाई। उस दिन उसे मूर्च्छा आ गई। उँगलियाँ मुड़ गईं, दाँत एक पर एक जम गये। उस दिन मैं पहली बार समझा कि नारी सौंदर्य की रश्मि है और विधि ने उसे इसी के लिए सिरजा है। मैं भौचक्का-सा न-जाने कितनी देर तक उसे निहारता रहा। उसकी माता ने उसे मुझे सौंपते हुए कहा था—'बेटा, तेरी साधना सफल हो।' इन वाक्यों को न-जाने मैं कितनी

बार दुहरा गया। उसकी छोटी बहन ने भी कहा था, 'जीजाजी, गश आते ही दीदी के हाथ-पाँव पर गाय का घी मलना और सिर पर भी थपथपा देना।' मैं वही तो कर रहा था। एक हाथ की उँगलियाँ मलकर खोलता, तो दूसरे की मुँड़ जातीं। दाँत खोलता, तो हाथ-पाँव मुड़ जाते। अंत में मैंने ही विजय पाई। उसने आँखें खोलीं— ओफ़, स्वर्ग की प्रतिमा, अतुल रूपमयी, कितनी भली, कितनी अनूठी!

लेकिन डाक्टर ने तो कहा है........!

क्या वह अब नहीं बचेगी? परिस्थिति भी तो यही कहती है कि वह मर जायगी। कब उसका अस्तित्व मिट जाय, ठीक नहीं। मैं कुछ भूला-सा चित्र पर ब्रुश फेरने लगा। यह उसका अंतिम चित्र होगा। कल जब वह चली जायगी, उसका अभाव मुझे अखरेगा। मैंने उसका जीवन कई भावमय चित्रों में भर तो अवश्य लिया है, पर उसके सभी चित्र उसके अभाव की पूर्ति करने पर भी नहीं कर सकेंगे। मैं व्यापक भाव से सोचने लगा, 'क्या उसका जीवन इन चित्रों में ही सीमित रह जायगा?' मेरा विश्वास भी यही है। संसार की इस चित्रशाला में क्रूर काल किसका चित्र नहीं खींचता। समय उसका सखा है। बचपन का भोलापन, यौवन की मस्ती, प्रौढ़ता का भाव-

मय रेखांकित मुखमंडल ; फिर अन्त में समाप्ति का ड्राप-सीन। यही जीवन की परिचर्या है !

विवाह से पहले मैं चित्रकारी से अनभिज्ञ था। तब मैं न जानता था कि चित्र क्या है, वे क्यों बनाये जाते हैं, जीवन में उनका क्या महत्त्व है। चित्रकार बनने के लिए मैंने उससे विवाह नहीं किया था। उस समय तो मैं संसार को दिखा देना चाहता था कि विवाह का मूल्य स्वार्थ नहीं, त्याग है। प्रकृति ने नारी में त्याग की मात्रा अधिक दी है। पुरुष वैवाहिक बन्धनों से स्वतंत्र रहकर मद में झूमते हैं। परन्तु भगवान् ने स्त्री को माया और ममत्व से भर दिया है। जो वहाँ शुद्ध हृदय से एक बार जाता है, निराश होकर नहीं लौटता। मैं भी उन्हीं में था।

हाँ, चित्र बनाने की भावना तो अनायास ही हृदय में आई। उस दिन बड़ी ही मधुर संध्या थी। हम पार्क की हरी-हरी दूब पर लेटे थे। संध्या की उस सुनहली आभा की ईर्ष्या में मूर्च्छा ने उसे धर दबाया। मैंने डरकर उसे अपने हृदय से लगा लिया। मैं समझा, वह प्रकृति की अबोध बालिका है, जो किसी मूक-निमंत्रण की भावना-मात्र से उसी में लीन हो जाती है। साथ-ही-साथ किसी ने चुपके से मेरे हृदय में कहा—यह तो शीघ्र ही तुझे छोड़कर चली जायगी। तब तुझे यह सब देखने को कहाँ मिलेगा ? यह नैसर्गिक शोभा तुझसे छिन जायगी। दूसरे

तथा किसी और ने कहा—चित्रकार बनकर इस सौंदर्य को अमर क्यों नहीं बना लेता ? इस कल्पना ने मेरी आँखों के सम्मुख एक स्वप्न का संसार खोल दिया। उसी दिन से मैंने चित्रकारी आरम्भ कर दी। आज मैं सचमुच एक बड़ा चित्रकार हूँ।

आज मेरे पास दर्जनों चित्र हैं। उनमें गहरी नीरवता, गहरी शान्ति, मर्मभेदी दुःखों के साथ गहरी विचार-रेखाएँ अनुरंजित हैं। उनमें वह आध्यात्मिक स्नेह की व्याख्या है, जो गंभीर मुद्रा और रहस्यमय कल्पनाओं के साथ हृदय-मंथन करने में कभी न चूकेगी। वह जीवन-सहचरी के रहस्यमय जीवन की अवहेलना से दूर, कल्पनाओं-विकल्पनाओं की ममतामयी अन्तर्वेदना का उच्छ्वास है।

मेरी मेज़ पर चित्रकारी की पूरी सामग्री है। रंग-बिरंगी पेंसिलें हैं, छोटी-बड़ी कूचियाँ, पतली-मोटी निबें, वाटरकलर, पेस्टल और क्या-क्या नहीं है।

मैं अपने अधूरे चित्र पर जा लगा। डाक्टर के कथनानुसार यह चित्र शीघ्र बन जाना चाहिए। मैं व्यवस्थित गति से पेंसिल चलाने लगा। उसकी ओर निर्निमेष भाव से देख, मुख के भावों को अंकित करने लगा। पर वह तो उत्तेजित-सी होने लगी। बुखार चढ़ आया। मुख पर लाली आई, फिर पसीने की झलक। मैंने उठकर थरमामेटर लगाया, वह कुछ अच्छी-सी लगी। पर हाथ जल रहे

थे । बड़ा भीषण ताप था । आँखें पीली हो रही थीं । श्वास पूर्ण वेग से चल रहा था और थरमामेटर का पारा निर्भीकता से १०३.५° पर चढ़ गया ।

सुबह आठ बजे ९९.५°, बारह बजे १०१°, दो बजे १०२° और शाम को पाँच बजे १०३.५°, यह तो नित्य का नियम है । रात्रि को आठ बजे १०४° तक चढ़ जाता है ।

मैंने चार्ट पर टेम्परेचर नोट कर थरमामेटर को झटका । फिर उसे धोकर मेज़ पर रख दिया और सोचने लगा ।

सच, पहले तो यह न था । उन दिनों तो केवल मूर्च्छा थी और कथनमात्र को क्षय की प्रथम सीढ़ी । कौन जानता था कि दशा यहाँ तक पहुँच जायगी ! घरवाले इधर आने में डरते हैं । माताजी पहले ही कुढ़ी बैठी थीं ; अब प्रतिदिन गुरु-मन्त्र जपती हैं, 'पिशाचिनी मरती भी नहीं ; मेरे लाल को खाये डालती है ।' पिता मेरी इतनी तन्मयता देख रो देते हैं । दया और सहानुभूति से उनका हृदय कभी-कभी छलछला उठता है । उनसे जितना होता है, उठा नहीं रखते । डा० माथुर ने पैलोल(Palol) पिलाने को कहा ; वह आ गया । डा० बनर्जी ने ओवलटीन देने को कहा । वह भी आया । वह इंजेक्शन की सुई मोटी है—बदल दो, Colloidal Calcium के ट्यूब समाप्त होने को हैं—तार देकर मँगाओ । सभी आज्ञाएँ पूरी होती हैं । रुपयों की तो धारा-सी बहती है ।

यौवन की मादकता में युवक अपनी नई पत्नी के साथ रंगमय बन कमरे को सजा-धजाकर रखते हैं। पर मेरी कमलिनी का कमरा विश्व की एक निराली पाठशाला का सौंदर्य रखता है। इसमें सांसारिक सुषमा, लालित्य, हर्ष, उल्लास नहीं, विधि के वैचित्र्य की अपूर्ण भावनाएँ हैं। सामने दीवाल पर 'एनीमा' टँगा है। एक कोने के मेज़ पर 'फ़ीडिंग बोतल' कप आदि हैं। उसके पास ही छोटी मेज़ पर 'लिस्टरीन', 'ओवलटीन, 'पैलोल', 'हाल्स वाइन', और छोटी-बड़ी कई चिह्न लगी दवा की शीशियाँ हैं। दूसरे कोने की तिपाई पर पानी-भरी सुराही है। कोने में पास ही कारबोलिक और ग्लिसरीन सोप की बट्टियाँ हैं। कमरे के बीच में पलँग पर वह लेटी रहती है। पलँग के पास ही दो-चार कुर्सियाँ पड़ी हैं, जो दिन भर आने-जानेवालों के सहानुभूतिमिश्रित बोझ से दबती हुई अब थोड़ी-थोड़ी टूटने लगी हैं। एक कोने में मेरी चित्रकारी के सामान से भरी हुई मेज़ है। उसी के पास एक छोटी चार-पाई पर मैं विश्राम कर लेता हूँ। वह सामने की आलमारी उसके कपड़ों और गहनों से भरी है।

अपनी कमलिनी को मैं प्रतिदिवस नई-नई साड़ियों से सजाये रखता हूँ। हाथों की सोने की चूड़ियाँ बीमारी का साथ दे न सकीं, तो मैंने उन्हें सुनार से छोटी करा फिर पहना दिया। प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर मैं गरम पानी में

तौलिया भिगो उसका मुँह पोंछता हूँ....फिर........; हाँ, लिस्टरीन के कुल्ले करवा और माँग में ईंगुर की लाली भर, मैं उसे नई धुली साड़ी पहनाता हूँ।

डाक्टर आठ बजे आता है और कठोर हृदय से सुई चुभाकर चल देता है। कमलिनी की उस समय की पीड़ा देखकर मैं काँप उठता हूँ, मानों सारा कष्ट मुझे ही हो रहा हो। 'इंटरवेनस' के दिन मैं उसकी बाँह को कपड़े से कसकर बाँध लेता हूँ और डाक्टर नस ढूँढ इंजेक्शन देता है। उस समय वह चीख़ उठती है और मेरी आँखें भी सजल हो जाती हैं। डाक्टर के चले जाने पर मैं उसे बहलाने के लिए कहता हूँ—"कल से यह इंजेक्शन बंद करा दूँगा। बड़ी पीड़ा होती है न ?"

वह सिर हिलाकर कहती है—"पर फिर मैं अच्छी कैसे होऊँगी ?"

हृदय पर चोट-सी लगती है। मैं चुप हो जाता हूँ, और दूसरे दिन से फिर इंजेक्शन दिया जाता है।

रात को जब मैं उसकी छाती में दवा मलता हूँ, गरम-गरम रुई की तह से उसे सेकता हूँ, तो ऐसा ज्ञात होता है, मानों मैं उसके अति समीप पहुँच गया हूँ। उसकी हृदय की धुकधुकी स्पर्श होते ही न-जाने मेरे हृदय की धुकधुकी में कब मिल जाती है। हाथ अचानक रुक जाता है और मैं उसे सजीव सौंदर्य मूर्ति के मुख की ओर देखने लगता

हूँ। चार आँखें होती हैं और वह धीरे-से मुसकिरा देती है। मैं अनिर्वचनीय आनन्द में डूब जाता हूँ।

पर यह अन्तिम चित्र ! सहसा मेरा ध्यान टूट गया और दूसरे ही क्षण मैं चित्र की ओर बढ़ता हूँ।

पर हाँ, उसका स्वभाव भी दिन-प्रतिदिन चिड़चिड़ा होता जाता है। वह बात-बात में चिढ़ उठती है और कभी-कभी रूठ भी जाती है। जब मैं रकाबी में अनार के कुछ दाने रखकर या अंगूर और भुने हुए नमकीन मुनक्कों को लेकर उसके पास जाता हूँ, तो वह मुँह फेर लेती है और मैं यह भूलकर कि वह बीमार है, उसे गुदगुदाने लगता हूँ। उस समय न-जाने क्यों मैं एक अजीब भावुकता के प्रवाह में बह जाता हूँ। वह भी हारकर मेरी ओर मुँह कर लेती है और हँसती-हँसती सब चट कर जाती है। मैं फिर सोचता हूँ कि रगड़े-झगड़े का यह अध्याय भी उसके जीवन का एक अंग है। उन्हें जीवन के तराजू में तोल, उस सुख-दुःख को बड़ी सावधानी से नाप, एक ठंडी साँस ले, कुछ देर तक सब कुछ भूल-सा जाता हूँ। मानव-हृदय की भावनाओं के महत्त्व को समझ, भावनाओं से प्रेरित झूठी आशा की छाया में मार्मिक व्यथा की थिरकन को सांसारिक प्रेम के पलड़ों में तोल मैं सुख और दुःख को बाँट लेता हूँ।

कमलिनी की बीमारी के साथ-ही साथ मेरा जीवन भी बदल गया। सोते-सोते मैं कई बार जागकर देखने लगता

हूँ कि अब वह कैसी लगती है। कलाकार के समान मैं इस संसर्ग से पूरा लाभ उठाता हूँ और उसकी गति के साथ-ही-साथ मैं भी बहने लगता हूँ।

आज एक साल से मैं उसके साथ हूँ। बहुत पहले ही मैं समझ गया था कि वह मेरे हाथों से निकल जायगी। कुछ दिनों वह नियति पर बड़ी ही मग्न रही। वह रंग-विरंगी साड़ियाँ पहनती और मेरे चित्र बनाते समय उस भाव में बैठ जाती, जिससे में अपने चित्रों में सजीवता को भर एक अलौकिक आनन्द में डूब जाता और उसका मुँह चूमते चूमते उसे थका देता। तब मैं उन्मत्त होकर उसे गाढ़े आलिंगन में बाँध लेता।

फिर उसका प्रवाह किसी दूसरी ओर बहने लगा। वह कुछ रूखी-सी हो गई, कुछ लापरवाह-सी। जब मैंने सोने की नई अँगूठी नुमायश से लाकर दी, तो उसने उसे खो दिया। जब मैंने पूछा—कैसे खो गई तो उसने बड़ी लापर-वाही से उत्तर दिया—"जैसे चीज़ें खो जाती हैं।" खाने-पीने की मात्रा भी बढ़ गई।

और एक दिन वेदना की छाया थिरक उठी, वह अलसाई-सी देर में सोकर उठी, आँखों में विचित्र ज्योति थी, मुखमंडल पर एक अनोखी प्रभावकारी आभा थी। वह बहुत हँस-हँसकर ठठोलियाँ करती। दूसरे दिन भी यही दशा रही। तीसरा, चौथा, पाँचवाँ दिन भी इसी प्रकार

कटा । फिर एक दिन वह बिस्तर पर लेट गई । शिथिलता फैलते-फैलते फैल गई ।

मेरे जीवन में वह एक नवीनता लाई । मैं घंटों चित्र बनाते-बनाते ही अपना समय काट देता । मेरे चित्र भावपूर्ण और सजीव होते । लोग उनका आदर करते, और जब मैं उन्हें अपनी सफलता की देवी को दिखाता, तो वह हर्ष से चिल्ला उठती ।

"क्या सच मैं ऐसी ही सुन्दरी हूँ ?"

मैं कहता—"हाँ"

"नहीं, तुम झूठ बोलते हो, तुमने किसी और का चित्र खींचा है ।" वह बड़े ही मदमय भाव से कहती ।

"नहीं, यह तुम्हारा ही चित्र है कमलिनी ! भला मैं तुमसे झूठ क्यों बोलता ।"

उसे विश्वास हो जाता, वह प्रेम से गद्‌गद् होकर कहती—"समझ गई, मैं इतनी ही सुन्दरी हूँ, सचमुच बड़ी सुन्दरी हूँ । तभी तो तुम मुझको इतना प्यार करते हो ।"

उस समय उसकी आँखें डबडबा आतीं । मैं उसे चूम लेता । ओफ़ ! उसके होठ जलते होते, उनमें कैसी भीषण ज्वाला होती । मैं उसकी वेदना के दाह से छटपटा उठता; उसे थपकी दे-देकर सुलाता और वह सो जाती ।

ठीक ! डाक्टर यह आज क्या कह गया । तो क्या

कमलिनी मर भी सकती है ! वेदना की इस तीव्र अनुभूति से तिलमिलाकर भी मैं चित्र बनाने लगा— सुन्दर, अपूर्व, विचित्र—कई भाव आये, रंग की धारा बह चली।

फिर मैं अतीत के चित्रों को टटोलने लगा। यह चित्र तो सबसे अनूठा है—उस चाँदनी का चित्र है, जब पूर्णिमा की मध्य रात्रि में शृगालों की हुआ-हुआ सुन मैं जग पड़ा था। अचानक देखा कि पार्श्व में सोई वह कितनी भली लगती है, उसके बाल बिखरे थे, मुख शांत था, चाँद की किरणें उस पर आँख-मिचौनी खेल रही थीं। ठोड़ी के नीचे एक हल्की-सी छाया उसकी आभा को दुगना कर रही थी। मेरी चेतना जगी और मैं छत के दूसरे कोने की मेज़ पर बैठ चित्र बनाने में तल्लीन हो गया। ग्रीष्म की वह छोटी रात्रि न-जाने कब बीत गई। प्रातःकाल हो आया, मैं उस समय भी चित्र के भिन्न-भिन्न भावों के चढ़ाव-उतार में लीन था। चित्र समाप्त कर जब पीछे देखा तो वह बोल उठी—"उहूँ"

न-जाने वह कब से जाग रही थी। मैंने मुसकिराकर वह चित्र उसे दे दिया। वह उसे देख दाँत पर अपने अँगूठे का नाखून बजाकर बोली—"खुट्टी, अब दोस्ती नहीं होगी, क्यों इस प्रकार की चोरी की गई ?"

"लेकिन तुम तो मेरी हो, इसमें चोरी क्या ?"

"समझी, इसीलिए तो रात-रात जगना पड़ता है, लोग क्या कहेंगे।"

"क्या ?"—मैं पूछ बैठा।

"हूँ, कल बीमार पड़ जाओगे, तो यही न कि मेरे पीछे बीमार हुए।"

मैं चुपचाप निरुत्तर-सा बैठा रहा।

और वह दूसरा चित्र, हाँ एक दिन वह बातें करती-करती मूर्च्छित हो गई। मैं व्यथा को समेटकर निठुर बना चित्र खींचता रहा। तीन घंटों में जब वह जगी, तो मेरा चित्र भी समाप्त हो चुका था।

पर आज तो प्रलय की रात्रि है। डाक्टर ने बहुत सोच-विचारकर विधाता के गिने श्वासों को अपने स्टेथेसकोप के सहारे गिना है; तभी तो उसने यह सब कहा है। भला वह झूठ क्यों कहेगा। हाँ, यह तो मैं भी देख रहा हूँ कि आज प्रातःकाल से ही ऊर्ध्वश्वास चल रही है। हैं! वह तो सचमुच मर जायगी; फिर कल किसका चित्रण करूँगा। वह कितनी भली लगती है; उसके ओठ—मैं उठा और उसे चूमने को बढ़ा। मुँह के पास पहुँचा ही था कि ध्यान आया, कहीं उसकी नींद उचट न जाय। उलटे पाँव लौट आया और फिर चित्र बनाने लगा।

द्वार खोलकर कोई अन्दर आया। माँ आई थीं; साथ में नौकरानी भी। सबकी ड्यूटियाँ बँधी थीं।

"बेटा ! अब सो जा," माँ ने कहा। लेकिन मुझे नींद से क्या काम; मैं तो चित्रण को पूर्ण करने पर तुला था। कल से ड्यूटियाँ नहीं बटेंगी; यह कमरा शून्य हो जायगा और कमलिनी—कहाँ बहक पड़ा—वह चित्र अभी अधूरा ही है।

मैं सँभलकर बैठ गया। कमरे में जगमगाते बिजली के लैम्प का प्रकाश उसके मुँह पर पड़ रहा था। कूची चल रही थी। कभी मैं चित्र की ओर देखता, तो कभी उसकी ओर। हाँ, वह माथे का बल तो ठीक आ गया, लेकिन यह उपेक्षा का-सा भाव कैसे आया ? यह कुछ घुलेगा, तभी ठीक होगा। यह पीला रंग गाढ़ा क्यों ; कुछ लाली भरी जायगी।

मैं चित्र बनाने में लीन था। यह नाक की कील, वह माथे की लाल बिन्दी, ये अधखुली आँखें, वेदना की गहरी छाया लिये ये सुन्दर होंठ—ठीक तो हैं।

फिर उसे देखने लगा, यह हाथ कुछ झुका होगा और मैं....न-जाने कितनी देर से चित्र बना रहा था। और वह भाव !.... ...यह भी ठीक होगा।

मैं चित्र बना रहा था। उसका अन्तिम चित्र था।

माँ सिसकियाँ लेने लगी, नौकरानी रो उठी।

कूची एक क्षण को रुक गई, हाथ थम गया—मैं काँप उठा, हृदय पर गहरी ठेस लगी।

माँ चीख उठी, "हाय मेरी बेटी।" नौकरानी चिल्ला पड़ी, "हाय मेरी रानी।" डाक्टर के कथन की पुष्टि हुई।

मैं सब कुछ समझ गया। चुपचाप चित्र बनाता रहा, हृदय बैठा जा रहा था।

प्रातःकाल की किरणें कमरे में आईं। मैं अभी तक चित्र समाप्त न कर सका था। कुछ अपनी सुध भी भूल गया था। कमरे में न-जाने कब इतने लोग इकट्ठे हो गये। कुछ उसे उठाने को बढ़े।

मैंने कहा—"ठहरो, चित्र पूरा हो लेने दो।" वे हट गये।

फिर सन्नाटा।...मेरी तूलिका चली! यह आँखों की निस्तेजता, यह मुखमंडल पर हल्की सफ़ेदी। सब ठीक ही है। लेकिन ओठों पर इस मधुर मुसकान का खेलना—कुछ कसर है।

मैं चित्र को सुधारने लगा—वह भाव ......उधर देखा।
वे उसे भूमि पर उतारे न-जाने क्या कर रहे थे।
मेरा वह चित्र, उफ़! अधूरा ही रह गया।